

समयसारकलशमे कहा है--

घृतः यह संवर साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेसे होता है और शुद्ध आत्तत्वकी उपलब्धि भेदविज्ञानसे होती है अतः भेदविज्ञानकी भावना विशेष रूपसे करना चाहिए । यह भेदविज्ञान निरन्तर धाराप्रवाह रूपसे तबतक करना चाहिए जबतक ज्ञान परपदार्थोंसे हटकर अपने स्वरूपमें स्थिर न हो जाये । क्योंकि जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं । और जितने भी बद्ध हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं ॥

यहां यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर रहना दो प्रकारसे होता है--एक तो मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञानका होना और दूसरे शुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान विकाररूप में परिणामे । अतः मिथ्यात्वकी दशामें भेदविज्ञानकी भावनासे मिथ्यात्व हटता है । और मिथ्यात्व हटनेपर भेदविज्ञानकी भावना भानेसे शुद्धोपयोगरूप दशा प्राप्त होती है । अतः भेदविज्ञानका अनवच्छिन्न चिन्तन आवश्यक है ।

आवश्यक करते हुए भी यह भेदविज्ञानकी धारा सतत प्रवाहित रहती है । अतः आवश्यक करते हुए साधु विचारता है कि भेदविज्ञानके बलसे साक्षात् कर्मोंका विनाश करनेवाली शुद्ध आत्माकी संवित्तिको जबतक मैं प्राप्त नहीं कर लेता तबतक ही है इस आवश्यक क्रियाको करता हूँ ।

वैसे मोक्षाभिलाषीको तो सभी कर्म त्याज्य हैं । उसमें पुण्य और पापका भेद नहीं है अर्थात् साधुको पुण्य कर्म करना चाहिए, पापकर्म नहीं करना चाहिए, ऐसा भेद नहीं है । क्योंकि कर्ममात्र बन्धका कारण है और ज्ञानमात्र मोक्षका कारण है । किन्तु जबतक कर्मका उदय है तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय करनेमें कोई हानि नहीं है अर्थात् ज्ञानधाराके साथ कर्मकी भी धारा चलती ही है । किन्तु कर्मधारासे बन्ध ही

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलभ्यते ।

स भेदविज्ञानत एव सस्मात् तदभेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

भ्रंशयेद् भेदविज्ञानमिदमिच्छन्धृणारया ।

तावद्यावत्पराच्चयुत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥१३०॥

[५]

होता है, ज्ञानधारासे ही मोक्ष होता है । समयसार कलश १११ के भ्रंशवार्थमें पं. जयचन्द्रजी साहबने लिखा है--

जो परमार्थभूत ज्ञानस्वभाव आत्माको तो जानते नहीं, और व्यवहार, दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसीमें तत्पर रहते हैं उसीका पक्षपात करते हैं वे कर्मनयावलम्बी संसार समुद्रमें डूबते हैं । और जो परमार्थभूत आत्मस्वरूपको यथार्थ तो जानते नहीं और मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकान्तवादियोंके उपदेशसे अथवा स्वयं ही अपने अन्तरंगमें ज्ञानका मिथ्यास्वरूप कल्पना करके उसीका पक्षपात करते हैं तथा व्यवहार, दर्शन, ज्ञान, चारित्रके क्रियाकाण्डको निर्थक जानकर छोड़ते हैं वे ज्ञाननयके पक्षपाती भी संसार समुद्रमें डूबते हैं । किन्तु जो पक्षपातका अभिप्राय छोड़ निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए कर्मकाण्डको छोड़ते हैं और जब ज्ञानरूपमें स्थिर रहनेमें असमर्थ होते हैं तब अशुभ

कर्मको छोड़ आत्मस्वरूपके साधनरूप शुभं क्रियाकाण्डमें लगते हैं वे संसारसे निवृत्त हो लोकके ऊपर विराजमान होते हैं^६

अतः आचार्य जयसेनने समयसार गाथा २०४ की टीकामें लिखा है--जो शुद्धात्मानुभूततिसे शून्य ब्रततपश्चरण आदि कायक्लेश करते हैं वे परमात्मपदको प्राप्त नहीं कर सकते । सिद्धान्तशास्त्रों जिसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा है अध्यात्ममें उसे ही शुद्धात्मसंवित्ति कहा है ।

किन्तु क्या शुद्धात्माकी संवित्ति सम्भव है ? और वह प्रत्यक्षरूप होती है क्या ? इसके उत्तरमें आचार्य जयसेनने संवाराधिकारके अन्तमें कहा है--

ध्यद्यपि रागदि विकल्परहित स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चयनयसे केवलज्ञानकी तुलनामें परोक्ष है । तथापि इन्द्रिय और मनोजन्य सविकल्प जानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है । इससे आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है । परन्तु केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्षा भी है । सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नहीं कह सकते । क्या चतुर्थकालमें भी केवली आत्माको हाथपर रखकर दिखाते थे ? वे भी दिव्यध्वनिके द्वारा कहते थे और श्रोता उसे सुनकर परोक्ष रूपसे उसका ग्रहण करते थे । पीछे वे परमसमाधिके समय प्रत्यक्ष करते थे । उसी प्रकार इस काले भी सम्भव है । अतः जो कहते हैं कि परोक्ष आत्माका ध्यान कैसे होता है उनके लिए उक्त कथन किया है ।

समयसार गाथा ९६ के व्याख्यान में कहा है कि विकल्प करनेपर द्रव्यकर्मका बन्ध होता है । इसपर शंकाकार पूछता है--

भगवन ! ज्ञेयतत्त्वका विचारूप विकल्प करनेपर यदि कर्मबन्ध होता है तो श्रेयतत्त्वका विचार व्यर्थ है, उसे नहीं करना चाहिए ? इसके समाधानमें आचार्य कहते हैं--ऐसा नहीं कहना चाहिए । जब साधु तीन गुप्तिरूप परिणत होता हुआ निर्विकल्प समाधिमें लीन है उस समय तत्त्वविचार नहीं करना चाहिए । तथापि उस ध्यानके अभावमें शुद्धात्माके उपादेय मानकर या आगमकी भाषामें मोक्षको उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्वकी दशामें विषयकषायसे बचनेके लिए तत्त्वविचार करना चाहिए । उस तत्त्वविचारसे मुख्य रूपसे तो पुण्यबन्ध होता है और परम्परासे निर्वाण होता है अतः कोई दोष नहीं है । किन्तु उस तत्त्वविचारके समय वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणत शुद्धात्मा ही साक्षात् उपादेय है ए ध्यान रखना चाहिए । इसपर-से शंकाकार पुनः शंका करता है--

१. धमग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,

मग्ना ज्ञानयैशिणोपि यदस्विच्छन्दमन्दोद्यमाः ।

विश्वस्यापरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं

ये कर्मापि न कुर्वते न च वंश यान्ति प्रमादस्यङ् ॥१११॥

भगवन ! वीतराग स्वसंवेदनज्ञानका विचार करते समय आप वीतराग विशेषण प्रयोग क्यों करते हैं ? क्या स्वसंवेदनज्ञान सराग भी होता है ?

उत्तर--विषयसुखके अनुभवका आनन्दरूप स्वसंवेदन ज्ञान सब जनोमें प्रसिद्ध है किन्तु वह सरागस्वसंवेदन ज्ञान है । परन्तु शुद्धात्म सुखकी अनुभूतिरूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग है । स्वसंवेदन ज्ञानने व्याख्यानमें सर्वत्र ऐसा जाना चाहिए ।

इससे भोजीजन भी यह अनुभवन कर सकते हैं कि स्वसंवेदनज्ञान कैसा होता है। भोगके समय जब मनुष्यका वीर्यस्खलन होता है तब उसके विकल्पमे एकमात्र स्त्री की ही अनुभूति रहती है। किन्तु वह अनुभूति रागविष्ट है। ऐसी अनुभूति योगीको जब होती है जिसमे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित केवल शुद्धात्माका अनुभवन रहात है वह वीतराग स्वसंवेदन होता है। वस्तुतः वह भावश्रुतज्ञानरूप होनेसे परोक्ष है तथापि उस कालमे उसे प्रत्यक्ष तुल्य माना गया है। उसीका विकास निरावरण अवस्थांमे केवलज्ञानरूपसे होता है।

उसीको दृष्टिमे रखकर सागार धर्माभूत (८।१२) मे समाधिमे स्थित श्रावकको लक्ष्य करके आशा धरजीने कहा है--

धृष्टुध्द श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्थं स्वसंविदा ।

भावयंस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृत्तिम ॥

हे आर्य ! श्रुतज्ञानके द्वारा राग-द्वेष-मोहसे रहित शुद्ध आत्माको स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा र्हा करके और उसीमे लीन हो, सब चिन्ताओसे निमुक्त होकर मरण करो और मुक्ति प्राप्त करो।

इसीसे मुमुक्षुके लिए मुख्यरूपसे अध्यात्मीक श्रवण, मनन, चिन्तन बहुत उपयोगी है। उसके बिना इस अशुद्ध दशोमे भी शुद्धात्माकी अनुभूति सम्भव नहीं है। और शुद्धात्माकी अनुभूतिके बिना समस्त व्रत, तप आदि निरर्थक है। अर्थात् उससे शुद्धात्माकी उपलब्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

ज्ञानी और अज्ञानीमे अन्तर

समयसारके निर्जराधिकारमे कहा है कि सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि निश्चयसे राग पौदगलिक है। पुदगल कर्मके उदयके विपाकसे उत्पन्न होता है। यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो टंकोत्कीर्ण इण्डियाका भावस्वरूप हूँ। इस प्रकार तत्त्वको अच्छी तरह जानता हुआ स्वभावको ग्रहण करता है और परभावको त्यागता है। अतः जैसे कोई वैद्य विषकी मारणशक्तिके मन्त्र-तन्त्र, औषधे आदिसे रोककर विष भक्षण करे तो मरणको प्राप्त नहीं होता उसी तरह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुदगल कर्मके उदयको भोगका हुआ भी नवीन कर्मोंसे नहीं बँधता। अथवा जैसे कोई व्यापार कराता है यद्यपि वह स्वयं व्यापार नहीं करता किन्तु व्यापारी मुनीमके द्वारा व्यापारका स्वामी होनेके कारण हानि-लाभका जिम्मेदार होता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व संचित कर्मके उदयसे प्राप्त इन्द्रियविषयोको भोगता है तो भी रागादि भवोके अभावके कारण विषयसेवनके फलमे स्वामित्वका भाव न होनेसे उसका सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता। और मिथ्यादृष्टि विषयोका सेवन नहीं करते हुए भी रागादि भावोका सध्दाव होनेसे विषयसेवन करनेवाला और उसका स्वामी होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि तो मुनीमके समान है और मिथ्यादृष्टि व्यापारीके समान है। एक भोग भोगते हुए भी बँधता नहीं है और दूसरा भोग नहीं भेगते हुए भी बँधता है। यहाँ यह शंका होती है कि परद्रव्यसे जबतक राग रहता है तबतक यदि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है ते अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानामे चरित्रमोहके उदयसे रागादिभाव होते हैं तब वहाँ सम्यक्त्व कैसे कहा है। इसका समाधान यह है कि अध्यात्ममे मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धीजन्य रागको ही प्रधान रूपसे राग कहा है क्योंकि वही अनन्त संसारका कारण है। उसके जानेपर रहनेवाला चारित्रमोहनयीन्य राग अनन्त संसारका कारण नहीं है अतः तज्जन्य बन्धको भी बन्ध नहीं कहा है। अतः सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहन्य प्रवृत्तियोंको ऐसा मानता है कि यह कर्मका उदय है इससे निवृत्त होनेमे ही मेरा हित है। उसको वह रोगके समान आगन्तुक मानता है। और उसको मेटनेका उपाय करता है।

सिध्दान्तमे मिथ्यात्वको ही पाप कहा है । रत्नकरण्ड रावकाचारमे कहा है--

न मिथ्यात्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।

श्रेयोश्रेयश्च सम्यक्त्संम नान्यत्तनुभृताम ॥

अर्थात् तीनो कालो और तीनो लोकोमे प्राणियोका मियात्त्वके समान कोई अकल्याणकारी नहीं है और सम्यक्त्वकेकेसमान कोई कल्याणकारी नहीं है ।

अतः अध्यात्ममे जबतक मियात्त्व है तबतक शुभ क्रियाओको भी पाप ही कहा है । किन्तु व्यवहारनयकी प्रधानतामे व्यवहारी जीवोको अशुभसे छुडाकर शुभमे लगानेकी दृष्टिसे पुण्य भी कहा है ।

पं. आशाधरजीने आठवे अध्यायके प्रारम्भमे षडावश्यक क्रियाओका कथन करनेसे पूर्व यह सब कथन किया है । और अन्तमे मुमुक्षुसे कहलाया है कि जबतक इस प्रकारके भेदज्ञानके बलसे मै कर्मोका साक्षात् विनाश करनेवाली शुद्धात्मक संवितिको प्राप्त नहीं होता तबतक मै षडावश्यकरू प क्रियाओको करता हूँ । इस तरह नीचेकी भूमिकामे ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनो पृथक-पृथक रू पसे चला करती है । यदि ज्ञानधारा न हो और केवल कर्मधाराके होनेपर बन्ध तो होता ही है । किन्तु पुण्यबनके साथ ही पापबन्धमे स्थिति अनुभांगका हास तो होता ही है पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा भी होती है । यह सम्यक आवश्यक विधिका फल है ।

शासनदेवता अवन्दनीय है

आठवे अध्यायमे वन्दना नामक आवश्यकका वान करते हुए आशाधरजीने कहा है--

श्रावकोपि पितरो गुरु राजाप्यसंयताः ।

कुलिडिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोपिसंयतैः ॥५२॥

श्रावको भी वन्दना करते समय असंयमी मात-पिता, गुरु , राजा, कुलिगी और कुदेवकी वन्दना नहीं करना चाहिए । इसकी टीकामे आशाधरजीने कुदेवाड का अर्थ रू द्र आदि और शासनदेवता आदि किया है । और लिखा है कि साधुकी तो बात ही दूर, रावको भी इनकी वन्दना नहीं करना चाहिए ।

आशाधरजीने पूर्वज टीकाकार ब्रम्हदेवजीने भी बृहदद्रव्यसंग्रहकी टीकामे क्षेत्रपालको मियादेव लखा है, यथा--घ्रागद्वेषोपहतार्तरोद्रपरिणतद्वक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानाड-- (टीका. गा. ४१)

अतः शासनदेवो, क्षेत्रपाल, पद्यावती आदिको पूजना धोर मिथ्यात्व है । आजकलके कुछ दगम्बरवेशी साधु और आचार्य अपने साथ पद्यावतीकी मूर्ति रखकर उसे पुते है और इस तरह मिथ्यात्वका प्रचार करते है औश्र कुछ पण्डितगण भी उसमे सहयोग देते है, उनका समर्थन करते है । ऐसे ही साधुओ और पण्डितोकेलिए कहा है--

घण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः ।

शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम ॥

चारित्रभष्ट पण्डितो और ठग तपस्वियोने जिनभगवानकेनिर्म शासनको मलिन कर दिया ।

मठाधीशोकी निन्दा

दूसरे अध्यायके श्लोक ९६ तथा उसकी टीकामे आशाधरजीने मियादृष्टियोके साथ संसर्गका निषेध करते हुए जटाधारी तथा शरीरमे भस्म रमानेवाले तापसियोके साथ द्रव्यजिनलिंगके धारी अजितेन्द्रिय दिगम्बर मनियो और द्रव्यजिनलगे धारी मठपति भट्टारकोको भी संसर्गके अयोग्य कहा है; क्योकि उनका

आचरा म्लेच्छोको समान होता है । वे शरीरसे दिगम्बर वेश धारण करके भी लोकविरु ध्द और शास्त्रविरु ध्द आचरण करते है ।

पं. आशाधरजीके समयमे भटटारक पन्थ प्रवर्तित हो चुका था । किन्तु भटटारक भी मुनियोकी तरह दिगम्बर वेशमे ही रहते थे । असलमे जब मुनिगा वनवास त्यागरक मन्दिर आदिमे रहने लगे और मन्दिरके लिए दानादि ग्रहण करने लगे तो वे भटटारक कहे जाने लगे । क्रमशः भटटारकोकी गद्यियाँ स्थापित हो यगी और आचार्य शंकरके मठोकी तरह जैन भटटारकोके भी मठ बन गये और इस तरह भटटारक पन्थकी परम्परा प्रवर्तित हुई । भटटारकोने मुस्लिम युगमे जिनायतनोकी तथं शास्त्र भण्डारोकी सुरक्षा भी की और मन्त्र-तन्त्रसे अपना प्रभांव भी डाला । उनमे अनेक अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार भी हुए । किन्तु परिग्रह भी हुए । किन्तु परिग्रह और अधिकार ऐसी वस्तुएँ है जिन्हे पाकर मद न हाना ही आश्चर्य है । ये साधुको भी गिराये बिना नहीं रहते । पं. आशाधरजीके लेखसे प्रकट है कि विक्रमकी तेरहवी शताब्दीमे भटटारकोका आचरा इतना गिर गया ा कि उसे म्लेच्छोका आचरण कहा गया । उस समय तो वे सब दिगम्बर वेशमे ही रहते है । उत्तर कालमे तो उन्होने वस्त्र ही धारण कर लिया । आजके अनेक मुनि और आचार्य भी वस्तुतः भटटारक-जैसे ही है । उनक साथमे परिग्रहका भार रहता है । उसे ढोनेकेलि वे मोटरे रखते है, मन्त्र-तन्त्र करे है, हाथ देखते है, भविष्य बताते है, पूजापाठ-अनुष्ठानमे कराते है । ये सब क्रियाएँ दिगम्बर मुनियोके भ्रष्टरूप भटटारकोकी है ।

सत शूद्र दानका अधिकारी--

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमे कहा है--

दीक्षायोग्ययास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः ।

मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेपि जन्तवः ॥७९१॥

अर्थात् ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य तीन ही वर्ण जिनदीक्षाके योग्य है किन्तु आहारदानके योग्य चारो है । क्योकि सभी प्राणियोको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनमति है ।

इसमे शूद्रको भी आहारदानके योग्य कहा है । अर्थात् वह जिनदीक्षा तो धारण नहीं कर सकता किन्तु मुनियोको दान दे सकता है । अनगारधर्मांमृतके चतुर्थ अध्यायके १६७वे श्लोकमे एषासमितिके स्वरूपमे कहा है कि विधिपूर्वक अन्यके द्वारा दिये गये भोजनको साधु ग्रहण करता है । टीकामे आशाधरजीने अन्वैः का अर्थ ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और सतशूद्र किया है । अर्थात् ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्यकी तरह सत शूद्र भी मुनिको आहारदान दे सकता है ।

उक्त सोमदेव आचार्यने अपने नीतिवाक्यामृतमे कहा है--

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥

आचारानवद्यत्वं शुचिरु पस्करः शारीरी च वशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्वीपरिकर्मसु योग्यम ॥१२॥

अर्थात् एक बार विवाह करनेवालेको सत शूद्र कहते है । आचारकी निर्दोषता, धर और उपकरणोकी पवित्रता और शरीरिक विशुद्धि शूद्रको भी देव, द्विज और तपस्वी जनोके परिकर्मके योग्य बनाती है ।

आशाधरजीने सोमदेवके उक्त कथन केही आधारपर शूद्रको भी धर्मसेवनका अधिकारी कहा है--

शूद्रोप्युपस्कराचावपुःशुध्दयास्तु तादृशः ।

जात्या हीनोपि कालादिलब्धो हयातमास्ति धर्मभाक् ॥--सागारधर्मा.

अर्थात् शुद्र भी उपस्कर अर्थात् आसनादि उपकरण, आचार अर्थात् मद्यमांस आदिका त्याग और शारीरिक विशुद्धी होनेसे ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्यके समान धर्मपालनका अधिकारी है। जन्मसे हीन होनेपर भी आत्मा काल आदिकी लब्धि आनेपर धर्मका सेवन कर सकता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जिन शूद्रोमे पुनर्विवाह नहीं होता तथा खान-पान और रहन-सहन भी पवित्र है वे जैनधर्मका पालन करते हुए मुनिको आहारदान दे सकते हैं।

अतः आजकल जो मुनिगण आहार लेते समय श्रावकसे शूद्रके हाथका पानी न लेनेकी प्रतिज्ञा कराते हैं वह शास्त्रसम्मत नहीं है। सत शूद्रके हाथका आहार तक साधुगा भी ले सकते हैं। गृहस्थकी तो बात ही क्या ?

४. ग्रन्थकार आशाधर

वैदष्य

अनगार धर्माभूतके रचयिता आशाधर अपने समयके एक बहुश्रुत विद्वान थे। न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य, कोश, वैद्यक, धर्मशास्त्र, अध्यात्म, पुराण आदि विविध विषयोपर उन्होंने ग्रन्थरचना की है। सभ विषयोमे उनकी अस्खलित गति थी और तत्सम्बन्धी तत्कालीन साहित्यसे वे सुपरिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका समस्त जीवन विद्याव्यासंगम ही बीता था और वे बड़े ही विद्यारसिक और ज्ञानधन थे। आचार्य जिनसेनने अपनी जयधवला टीकाकी प्रशस्तिमे अपने गुरु वीरसेनके सम्बन्धमे लिखा है कि उन्होंने चिरन्तन पुस्तकोका गुरु त्व करते हुए सब पूर्वके पुस्तकशिष्यकोको पीछे छोड़ दिया था अर्थात् चिरन्तन शास्तोकेवे पारगामी थे। पं. आशाधर भी पुस्तकशिष्य कहलानेके सुयोग्य पात्र हैं। उन्होंने भी अपने समयमे उपलब्ध समस्त जैन पुस्तकोको आत्मसात कर लिया था। जिनका उद्धरण उनकी आकाओमे नहीं है उनके कालके सम्बन्धमे सन्देह रहता है कि ये आशाधरके पख्यात तो नहीं हुए ?

आज सिध्दान्त और अध्यात्मकी चर्चाके प्रसंगसे दोनोमे भेद-जैसा पतीत होता है क्योंकि सिध्दान्तके अभ्यासी अध्यात्ममे पिछड़े हैं और अध्यात्मके आयासी सिध्दान्तमे। किन्तु भट्टारक युगमे पैदा हुए पं. आशाधर सिध्दान्त और अध्यात्म दोनोमे ही निष्णात थे। उन्होंने मुनिधर्मके व्यवहारचरित्र षडावश्यक आदिका कथन करनेसे पूर्व उसका लक्ष्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वात्मामे निःशंक अवस्थान करनेके लिए षडावश्यक करना चाहिए। और इस अध्यात्म चर्चाका उपसंहार करते हुए कहा है कि इस प्रकारके भेद-विज्ञानके बलसे जबतक मैं शुद्धात्माके ज्ञानके जो कर्मोका साक्षात् विनाशक है प्राप्त नहीं करता, तबतक ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक आवश्यक क्रियाको करता हूँ। यह सब कथन करनेके पश्चात् ही उन्होंने षडावश्यककोका वर्णन किया है।

मुनि और श्रावकका आचार सम्बन्धी उनकी धर्माभूत नाम कृति कथा उसकी भव्यकुमुचनिद्रका टीका और ज्ञानदीपिका पंजिका यह एक ही ग्रन्थ उसके जिनागम सम्बन्धी वैदष्यके लिए पर्याप्त है। वे मुनि या आचार्य नहीं थे, गृहस्थ पण्डित थे। किन्तु उन्होंने प्रत्येक प्रकारके व्यक्तिगत अभिनिवेशसे अपनेको दूर रखते हुए सिध्दान्तके वर्णनमे आचार्यपरम्परासम्मत वीतराग मार्गको ही दर्शाया है। उनकी सम्पूर्ण कृति किसी भी प्रकारके दुरभिनिवेशसे सर्वाथा मुक्त है। यह उनके वैदुष्यकी एक बड़ी विशेषता है। तभी तो उनके पास मुनि तक पढ़नेके लिए आते थे।

भट्टारक युगमे रहकर भी वह उस युगसे प्रभावित नहीं थे। उन्होने भट्टारको और मुनिवेषियोंकी समान रूपसे भर्त्सना की है। और शासनदेवताओको स्पष्ट रूपसे कुदेव कहा है।

विषयकी तरह संस्कृत भाषा ओर काव्यरचनापर भी उनका असाधारण अधिकार था। धर्मामृत धर्मशास्त्रका आकर ग्रन्थ है किन्तु उसकी रचना श्रेष्ठतम काव्यसे टक्कर लेती है : उसमे केवल अनुष्टुप श्लोक ही नहीं है, विविध छन्द है और उनमे उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारकी बहुतायत है। संस्कृत भाषाका शब्द भण्डार भी उनके पास अपरिमित है और वे उसका प्रयोग करनेमे भी कुशल है। इसीसे उनकी रचना क्लिष्ट हो गयी है। यदि उन्होने उसपर टीका न रची होती तो उसको समझना संस्कृतके पण्डितके लिए भी टिन हो जाता तथा उस टीकामे उन्होने जो विविध ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये है और विविध आगमिक चर्चाएँ की है उन सबकेबिना तो धर्मामृत भी फीका ही रहता।

२. जीवन परिचय

आशाधरमे अपनी तीन रचनाओके अन्तमे अपनी प्रशस्ति विस्तरसे दी है। सबसे अन्तमे उन्होने अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका रची थी। अतः उसमे पूर्ण प्रशस्ति है। उसके अनुसार उनके पिताका नाम सल्लखण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका नाम छहड था। वे बधेरवाल वैश्य थे। माडलगढ (मेवाड) के निवासी थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणसे त्रस्त होकर अपने परिवारके साथ मालवाकी राजधानी धरामे आकर बस गये थे। वहाँ उन्होने पण्डित महावीरसे जैनेन्द्र व्याकरण और न्याय पढा।

३. रचनाओका परिचय

१. प्रमेयरत्नाकर--इसकी पंशसा करते हुए इसे स्याद्वाद विद्याका प्रसाद कहा है। यह तर्कबन्धु है, जिससे निर्दोष पद्यामृतका प्रवाह प्रवाहित होता है अर्थात् पद्योमे स्याद्वाद विद्या गुम्फित तर्कशास्त्रपर यह ग्रन्थ रचा गया था। किन्तु यह अप्राप्य है। इतः इसके सम्बन्धमे विशेष कथन शक्य नहीं है।

२. भरतेश्वराभ्युदयकाव्य--इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमे सिद्धि शब्द आनेसे इसे सिद्धयंक कहा है। इस काव्यपर स्वोपज्ञ टीका भी थी। यह काव्य कविने अपने कल्याणके लिए रचा था। इसके दो-एक पद्य अनगार धर्मामृतकी टीकामे उद्धृत है। उनसे प्रतीत होता है यह अध्यात्मरससे परिपूर्ण था। नवम अध्यायके सातवे श्लोककी टीकामे लिखा है--

एतदेव च स्वयमप्यन्वाख्यं सिदयडमहाकाव्ये यथा--

परमसमयासाराभ्याससानन्दसर्प-

त्सहमहसि सायं स्वयं स्वं विदित्वा।

पुनरु ददविद्यावैभवाः प्राणचार-

स्फुरदरु णजिम्भा योगिनो यं स्तुवन्ति ॥

काव्यके नामसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे भरत चक्रवर्तीकी मोक्षप्राप्तिका वर्णन रहा है।

३. पंजिका सहित धर्मामृतइतीसरी रचना है धर्मामृत। उसके दो भाग है--अनगार और सागार। इनमे क्रमसे जैन मुनियो और श्रावकोके आचारका वर्णन है। इसके प्रकाशन हो चुका है तथा इस संस्करणमे अनगार प्रथमबार पंजिका सहित प्रकाशित हो रहा है। इसके पश्चात प्रथमबार पंजिका सहित

सागर प्रकाशित होगा। ऐसा प्रतीत होता है धर्मामृतके साथ ही उसकी पंजिका रची गयी थी। क्योंकि प्रशस्तिमे इसके सम्बन्धमे लिखा है--

योर्हृदवाक्यरसं निबन्धरु चरिंशास्त्र च धर्मामृत

निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥

इसकी व्याख्या करते हुए आशाधरजीने हृदवाक्यसङ्घ का अर्थ जिनागमनिर्यासभूत और घनिबन्धरु चिरङ्ग का अर्थ ह्रस्वयकृतज्ञानदीपिकाख्यपञ्चिकया रमणीयङ्ग किया है अर्थात् धर्मामृत जिनागमका सारभूत है और स्वोपज्ञ ज्ञानदीपिका पंजिकासे रमणीय है। पंजिकाका लक्षण है घटदभचिचकाङ्ग। अर्थात् जिसमे केवल कुछ पदोका विश्लेषण होता है, पूर्ण श्लोककी व्याख्या नहीं होती, उसे पंजिका कहते है। अनगार धर्मामृतकी पंजिकाके प्रारम्भमे कहा है--

ह्रस्वोपज्ञधर्मामृतधर्मशास्त्रपदानि किञ्चितं प्रकटीकरोतिङ्ग

अर्थात् स्वरचित धर्मामृत नामक धर्मशास्त्रके पदोको किञ्चित् रूपसे पकट करता हूँ। अतः इसमे प्रत्येक पद्यके कुछ पदोकी व्याख्या मात्र है। अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाका प्रारम्भ करते हुए तो ग्रन्थकारने ज्ञानदीपिकाका कोई उल्लेख नहीं किया है। किन्तु सागर धर्मामृतकी टीकाके प्रारम्भमे लिखा है--

समर्थनादि यन्नात्र बुरवे व्यासभयात् क्वचित्।

तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत् पञ्जिकाया विलोक्याताम् ॥

अर्थात् विस्तरके भयसे किसी विषयका समान आदि जो यहाँ नहीं कहा है उसे इसकी ज्ञानदीपिका नामक पंजिकामे देखो। अतः पंजिकामे आगत विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थान्तरोसे उद्धृत पद्योका बाहुल्य है। उदाहरणके लिए दूसरे अध्यायके प्रारम्भमे मियामतोका निर्देश करनेके लिए अतिगतिके पंचसंग्रह तथा मिथ्यात्वके भेदोके समर्थनमे अमिगतिके श्रावकाचारसे बहुत-से श्लोकादि उद्धृत किये है। इस तरह ज्ञानदीपिकामे भी क्रन्थान्तरोके प्रमाणोका संग्रह अधिक है। इसी दृष्टिसे उसका महत्त्व है।

४. अष्टांगहृदयोद्योत--वाग्भट विरचित अष्टांगहृदय नाक ग्रन्थ आयुर्वेदका बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह उसकी टीका थी जो वाग्भटसंहिताको व्यक्त करनेके लए रची गयी थी। यह अप्राप्य है। धर्मामृतकी टीकामे आयुर्वेदसे सम्बद्ध जो श्लो उद्धृत है वे प्रायः वाग्भट संहिताके है।

५. मूलाराधनाटीका--भगवती आराधना अतिप्राचीन आगम ग्रन्थ है। इसमे साधुके समधिमरणकी विधिका विस्तरसे कथन है। इसपर अपराजिलत सूरिकी विजयोदया टीका संस्कृतमे अतिविस्तृत है। उसीके आधारपर आशाधरजीने भी संस्कृतमे यह टीका रची है जो विजयोदया टीकाके साथ ही शोलापुरसे प्रथमबार १९३५मे प्रकाशित हुई थी। इसमे विजयोदया टीका तथा एक टिप्पण और आराधनाकी प्राकृत टीकाका निर्देश आशाधरजीने किया है। इसमे पूर्व किसीने इसका उल्लेख नहीं किया था।

६. इष्टोपदेश टीका--पूजयपाद सवामीके इष्टोपदेश पर यह टीका रची गयी है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाके अन्तर्गत तत्त्वानुशासनादि संग्रहमे प्रथम बार मद्रित हुई थी। उसके पश्चात् वीर सेवामन्दिर ग्रन्थमाला दिल्लीसे हिन्दी टीकाके साथ १९५४ मे प्रकाशित हुई। यह टीका मूल ग्रन्थका हार्द समझनेके लिए अति उपयोगी है। इसमे अनेक उद्धृत पद्य पाये जाते है।

७. अमरकोश टीका--यह अप्राप्य है।

८. क्रिया कलाप--इसकी प्रति बम्बई ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमे बतलायी गयी है।

९. आराधनासार टीका--यह अप्राप्य है ।

१०. भूपाल चतुर्विंशतिका टीका--भूपाल चतुर्विंशतिका स्तोत्रकी यह टीका अप्रकाशित है ।

११. काव्यालंकार--संस्कृत साहित्यमे रू द्रटका काव्यालंकार एक मान्य ग्रन्थ है उसपर यह टीका रची थी जो अप्राप्य है । अनगार धर्माभूतकी टीकामे (पृ. २५५) रू द्रटके काव्यालंकारका नामनिर्देश पूर्वक उद्धरा दिया है ।

१२. जिन सहस्त्रनामस्तवन सञ्जीव--जिन सहस्त्र स्तवन टीका सहित भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है । इसपर श्रुतसागर सूरिने भी टीका रची है वह भी उसीके साथ प्रकाशित हुई है ।

१३. नित्यमहोद्योत--यह भगवान अर्हन्तके महाभिषेकसे सम्बन्धित स्नान शास्त्र है इसका प्रकाशन श्रुतसागरी टीकाके साथ हो चुका है ।

१४. रत्नत्रयविधान--इसमे रत्नत्रयके विधानकी पूजाका महात्म वर्णित है । अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है ।

१५. जिनयज्ञकल्प--प्राचीन जिनप्रतिष्ठाशास्त्रोको देखकर आशाधरजीने युगके अनुरूप यह प्रतिष्ठाशास्त्र रचा था । यह नलकच्छपुरके निवासी खण्डेलवाल वंशके भूषण अल्हणके पुत्र पापासाहुके आग्रहसे विक्रम संवत् १२८५ मे आश्विन शुक्ला पूर्णिमाको प्रमारवंशभूषण श्री देवपाल राजाके राज्यमे नलकच्छपुर मे नेमिनाथ जिनालयमे रचा गया था । जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालयसे संवत् १९७४ मे प्रतिष्ठासारोद्धारके नामसे हिन्दी टीकाके साथ इसका प्रकाशन हुआ था । अन्तिम सन्धिमे इसे जिनयज्ञकल्प नामक प्रतिष्ठा सारोद्धार संज्ञा दी है । उसके अन्तमे प्रशस्ति है जिसमे उक्त रचनाओका उल्लेख है ।

अतः ये पन्द्रह रचनाएँ वि. सं. १२८५ तक रची गयी थी । सागार धर्माभूत टीकाकी प्रशस्तिमे इस जिनयज्ञकल्पका जिनयज्ञकल्पदीपक नामक टीकाके साथ उल्लेख है । अतः यह टीका १२८५ के पश्चात ही रची गयी है क्योंकि जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमे इसका निर्देश नहीं है ।

१६. त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र--इसका प्रकाशन मराठी भाषाकी टीकाके साथ १९३७ मे माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालासे उसके ३६वे पुष्पके रू पमे हुआ है । इसमे आचार्य जिनसेन और गुणभद्रके महापुराणका सार है । इसको पढनेसे महापुराणका कथा भाग स्मृतिगोचर हो जाता है । शायद इसीसे इसका नाम त्रिषष्टी स्मृतिशास्त्र रखा है । चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनाराण, नौ बलभद्र ये त्रेसठ शलाका पुरु श होते है । ये सब तीर्थकरके साथ या उनके पश्चात उन्हीके तीर्थमे होते है । आशाधरजी ने बडी कुशलतासे प्रत्येक तीर्थकरके साथ उसक कालमे हुए चक्रवर्ती आदिका भी कथन कर या है । जैसे प्रथम चालीस श्लोकमे ऋषभ तीर्थकर और भरत चक्रवर्ती आदिका कथन है । इसी तरह बीसवेमे इक्यासी श्लोकोमे मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकरके साथ राम, लक्ष्मण और रावणकी कथा है । अन्तिममे पचास श्लोकेमे भकवान महावीर के पूर्वभव वर्णित है ।

इसकी अन्तिम प्रशस्तिमे इसकी पंजिकाका भी निर्देश है । अर्थात् इसपर पंजिका भी रची थी जो इसीके साथ मुद्रित है । यह पण्डित जाजाककी प्रेरणासे संवत् १२९२ मे नलकच्छपुरमे राजा देवपालके जैतगिदवके अवन्तीमे राज्य करते हुए रचा गया है । इसकी प्रशस्तिमे किसी अन्य नवीन रचनाका निर्देश नहीं है ।

१७. सागारधर्माभूत टीका--इस टीकाके साथ सागार धर्माभूतका प्रथम संस्करण वि. सं. १९७२ मे माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईके दूसरे पुष्पके रू पमे प्रकाशित हुआ था । इसकी रचना वि. सं. १२९६ मे

नलकच्छपुरमे नेमिनाथ चैतयालयमे जैतुगिदवके राज्यमे हुई। इसका नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका है। पोरवाड वंशके समुध्दर श्रेष्ठीके पुत्र महीचन्द्र साहकी प्रार्थनासे यह टीका रची गयी और उन्हीने इसकी प्रथम पुस्तक लिखी।

१८. राजीमती विप्रलम्भ--इसका निर्देश वि. सं. १३०० मे रचकर समाप्त हुई अनगार धर्मात्मकी टीका प्रशस्तिमे है। इससे पूर्वकी प्रशस्तिमे नहीं है अतः यह खण्डकाव्य जिसमे नेमिनाथ और राजुलके वैराग्यका वर्णन था स्वोपज्ञ टीकाके साथ १२९६ और १३०० के मध्यमे किसी समय रचा गया। यह अप्राप्य है।

१९. अध्यात्मरहस्य--अनगार धर्मात्म टीकाकी प्रशस्तिमे ही राजीमती विप्रलम्भके पश्चात इसका उल्लेख है। यह पिताके आदेशसे रचा गया था। यह प्रसन्न किन्तु गम्भीर था। इसे पढते ही अर्थबाध हो जाता था। तथा उसका रहस्य समझनेके लिए अन्य शास्त्रोकी सहायता लेनी होती है; जो योगाभ्यासका प्रारम्भ करते उनके लिए यह बहुत प्रिय था। किन्तु यह भी अप्राप्य है।

२०. अनगारधर्मात्मटीका--अनगार धर्मात्मपर रचित भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका भी माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके चौदहवे पुष्पके रूपमे १९१९ मे प्रकाशित हुई थी। इसकी रचना भी नलकच्छपुरके नेमिजिनालयमे जैतुगिदेवके राज्यमे वि. सं. १३०० मे हुई थी। जिस पापा साहुके अनुरोधसे जिनयज्ञकल्प रचा गया था उसके दो पुत्र थे--बहुदेव और पद्मसिंह। बहुदेवके तीन पुत्र थे--हरदेव, उदयी और स्तम्भदेव। हरदेवने प्रार्थना की कि मुग्धबद्धियोको समझानेके लिए महीचन्द्र साहुके अनुरोधसे आपने सागार धर्मकी तो टीका बना दी किन्तु अनगार धर्मात्म तो कुशाग्र बुद्धिवालोके लिए भी अत्यन्त दुर्बोध है इसकी भी टीका बनानेकी कृपा करे। तब आशाधरजीने इसकी टीका रची। इसका परिमाण १२२०० श्लोक जितना है। यही टीका आशाधरजीके पाण्डित्य और विस्तृत अध्ययनकी परिचायिका है। इसमे मूलग्रन्थसे सम्बद्ध आचारविषयक चर्चाओके स्पष्ट तथा ग्रन्थान्तरासेस प्रमाण देकर पुष्ट किया गया है।

रचनाकाल--रचनाओके उक्त परिचयमे दिये गये उनकी रचनाओके कालसे आशाधरजीका रचना काल एक तरहसे निणीत-सा हो जाता है। वि. सं. १३०० के पश्चात की उनकी किसी कृतिका निर्देश नहीं मिलता। तथा वि. सं. १२८५ तक वे पन्द्रह रचनाएँ रच चुके थे। १२८५ के पश्चात पन्द्रह वर्षामे अपनी पाँच रचनाओका ही उल्लेख उन्होंने किया है। अतः नका मुख्य रचनाकाल १२८५ से पूर्व ही रहा है।

४. आशाधरके द्वारा स्मृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

आशाधरने अपनी टीकाओमे पूर्वके अनेक ग्रन्थो और ग्रन्थकारोका निदेश किया है और अनेक ग्रन्थोसे बिना नामोल्लेखके उद्धरण दिये है। अनगार धर्मात्मकी टीकामे ही उद्धृत पद्योकी संख्या एक हजारसे उपर है। यदि उन सबके स्थलोका पता लग सके तो एक विशाल साहित्य भण्डार हमार सामने उपस्थित हो जाये। किन्तु प्रयत्न करनेपर भी अनेक प्राचीन ग्रन्थोके अप्राप्य या लुप्त हो जानेसे सफलता नहीं मिलती। नीचे हम संक्षेपमे उनका परिचय अंकित करते हैं--

१. आचार्य समन्वद्रका निर्देश प्रायः स्वामी शब्दसे ही किया गया है। अन. टी. मे पृ. १६० पर स्वामिसूक्त करके उनके रत्नकरण्ड श्रावकाचारसे अनेक श्लोक उद्धृत किये है। सागार धर्मात्मके दूसरे

अध्यायमे अष्ट मूलगुणोके कथनमे रत्नकरण्डका मत दिया है। वहाँ उसकी टीकामे घस्वामीसमन्तभद्रमतडे लिखकर उनका नामनिर्देश भी किया है। इसीमे भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचारोके कथनमे छान्नाह स्वामी यथाङ लिखकर र. श्रा. का श्लोक देकर उसकी व्याख्या भी की है। अन्य भी अनेक स्थलोपर रत्नकरण्ड श्रावकाचारका उपयोग किया गया है। अन. ध. टी. पृ. ९५ मे यह प्रश्न किया गया है कि इस युगके लोग आप्तका निर्णय कैसे करे ? उत्तरमे कहा गया है आगमसे और शिष्टोके उपदेशसे निर्णय करे। इसकी टीकामे आगमके स्थानमे र. श्रा. का घाप्तेनोत्सन्नदोषण्ड आदि श्लोक उद्धृत किया है और घशिष्टाःङ की व्याख्या घाप्तोपदेशसम्पादितशिक्षविशेषाः स्वामिसमन्भद्रादयःङ की है। इस तरह उनके प्रति बहुत ही आदरभाव पदर्शित किया है।

२. भट्टाकलंकदेव--अन. टी. पृ. १६९ पर तथां चाहर्भट्टालंकादेवाः करके कुछ श्लोक उद्धृत है जो लघीयस्त्रयके अन्तिम श्लोक है।

३. भगवज्जिनसेनाचार्य--अन. टी. प. १७७ पर भगवज्जिनसेनाचार्याको मेघकी उपमा दी है क्योंकि वे विश्वके उपकारक है। उनके महापुराणका उल्लेख आर्ष रू पमे ही पृ. ७,२०,४०४८०,५६६ आदि पर सर्वत्र किया गया है। सागार धर्माभूतकी पंजिका तथां टीकामे भी आर्षके नामसे माहपुराणके ३८-३९ पर्वके बहुत-से श्लोक उद्धृत है। सागारधर्मके निमाणसे उससे बहुत सहायता ली गयी है।

४. कुन्दकुन्दाचार्य--अन. टी. पृ. १३२ पर यत्तात्त्विकाः लिखकर एक गाथा उद्धृत की है जो आचार्य कुन्दकुन्दकृत द्वादश अनुपेक्षा की है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दका उल्लेख तात्त्विक शब्दसे किया है।

५. अपराजिताचार्य--विजयाचार्य--भगवती आराधनापर अपराजित सूरिकी विजयोदया नामक एक विस्तृत संस्कृत टीका है जो शोलापुरसे १९३५ मे प्रकाशित हुई थी। अन. टी. पृ. १६६ पर भगवती आराधनाकी गाथा उद्धृत करके लिखा है कि इसका व्याख्यान विस्तारसे अपराजिताचार्य विरचित मूलाराधना टीकामे तथा हमारे) आशाधरके) रचे मूलाराधनादर्पण नामक निबन्धमे देखो। तथां पृ. ६७३ पर आचेलक्यका व्याख्यान करते हुए लिखा है क इसका समर्थन श्रीविजयाचार्य विरचित संस्कृत मूलाराधना टीकामे विस्तारसे किया है। अपराजित सूरिका ही नाम विजयाचार्य था या विजयोदया टीकाके नामपर-से इन्हे विजयाचार्य कहा जाता था। अनगार धर्मके कथनमे आशाधरने इसका बहुत उपयोग किया है।

६. अमृतचन्द्राचार्य--आचार्य अमृतचन्द्रका निर्देश प्रायः ठक्कुर (ठाकुर) शब्दके साथ किया है यथा पृ. ५८८ पर लिखा है-- एतच्च विस्तरो ठक्कुरामृतचन्द्रविरचित समययसार टीकाया द्रष्टव्यम्। अमृतचन्द्रके पुरु षार्थसध्दयुपायका भी उपयोग धर्माभूतकी रचनामे बहुतायतसे मिलात है। पृ. १६० पर रत्नकरण्डसे श्लोक उद्धृत करते लिखा है-एतदनुसारेणैव ठक्कुरोपीदमपाटीत और पु. सि से डलोके शास्त्राभासडे आदि किया है।

७. गुणभद्राचार्य--आत्मानुशासन और उत्तर पुराणके रचयिता गुणभद्रका निर्देश श्रीमद्गुणभद्रदेवपादाःङ लिखकर आत्मानुशासने (पृ. ६३२) एक श्लोक उद्धृत किया है। ये गुणभद्र आचार्य जिनसेनके शिष्य थे।

८. रामसेन--पृ. ६३३ तर श्रीमदरामसेनपूज्यैरप्यवाचि लिखकर उनके तत्त्वानुशासनसे एक पद्य उद्धृत किया है।

९. आचार्य सोमदेव--यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृतके रचयिता आचार्य सोमदेवका उल्लेख पायः घसोमदेव पण्डितके नामसे ही किया गया मिलता है। अन. टी. पृ. ६८४ पर छुक्तं च सोमदेव पण्डितैः लिखकर उनके उपासकाध्ययनसे तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। सागर धर्मामृत टीकामे तो कई स्थलोपर इसी नामसे उनका निर्देश मिलता है। उनके उपासकाध्ययनका उपयोग धर्मामृतकी रचनामे बहुतायतसे किया गया है।

१०. आचार्य अमितगति--अमितगति नामसे इनका निर्देश मिलता है। इनके श्रावकाचार और पंचसंग्रहसे सर्वाधिक पद्य उद्धृत किये गये हैं।

११. आचार्य वसुनन्दि--वसुनन्दि श्रावकाचार तथा मूलाचार टीकाके कर्ता आचार्य वसुनन्दिका उल्लेख अन. टी. (पृ. ६०५) पर इस प्रकार मिलता है--एतच्च भगवद वसुनन्दि सैध्वान्तदेवपादैराचारटीकाया व्याख्यांत द्रष्टव्यम्।

मूलाचारकी टीकाका अनगार धर्मामृतकी टीकामे (पृ. ३३९, ३४४, ३५८, ३५९, ५६८, ६८२, ६०५, ६८९) बहुधा उल्लेख पाया जाता है।

धर्मामृतकी रचनामे मूलाचार और उसकी टीकाका बहुत उपयोग हुआ है। तथा सागर धर्मामृतकी रचनामे उनके श्रावकाचारका उपयोग बहुतायतसे हुआ है।

१२. प्रभाचन्द्र--रन्तकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके साथ उसके कर्ताका निर्देश अन. टी. (पृ. ६०८) पर इस प्रकार किया है--

घ्यथाहुः भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादाः रन्तकरडकटीकायाड। इस निर्देशसे ऐसा प्रतीत होता है कि आशाधरजी प्रसिद्ध तार्किक प्रभाचन्द्रकी ही टीकाकार मानते थे।

१३. पद्यनन्द आचार्य--अन. टी. (पृ. ६७३) मे सचेलता दूषणमे श्रीपद्यनन्दिपादके नामसे पद्यनन्दि पंचविशतिकाका एक श्लोक उद्धृत है। पद्य. पं. का भी उपयोग आशाधरजीने विशेष किया है। इनमे विक्रमकी बारहवीं शताब्दी पर्यन्तके कुछ प्रमुख ग्रन्थकार आते हैं। अब हम कुछ ग्रन्थोंके नामोका उल्लेख करेगे जिनका निर्देश उनकी टीकाओमे मिलता है--

तत्त्वार्थ वृत्ति (पृ. १४), यशोधरचरित, पद्यचरित (पृ. ५०), तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक (पृ. ७३), स्वरचित ज्ञानदीपिका (९२, ९८), द्रव्यसंग्रह (११८), संन्यासविधि (१३३), आराधनाशास्त्र (१४८, १६१), नीति (नीतिवाक्यामृत, १७१), सिध्वान्त (भ. आरा. १६७), आगम (त्रिलोकसार १९३), आगम (गोमट्टसार २३३, २८९, २६४, २३५), प्रतिक्रमणशास्त्र (२२८), नीत्यागम (नीतिवाक्यामृत २४५), मन्त्रमहोदधि (२५२), जातकर्म (२७६), महापुराण (२७४), भारत (२७४), रामायण (२७४), प्रवचनसारचूलिका (३२६), आचार टीका (मूलाचार टीका), (३३९, ३४४, ३५८, ३५९), टिप्पण (मूलाचारा टी. ३५९), वार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक ४३१), माघकाव्य (४६२), शतक (४६५), त्रिषष्टिशलाकपुरुषचरित (५८८), क्रियाकाण्ड (६०५, ६५४), सिध्वयंक महाकाव्य (६३३), सिध्वान्त सूत्र (षट्खण्डागम ६३८), संस्कृत क्रियाकाण्ड (६५३-६५४), प्राकृत क्रियाकाण्ड (६५४), ये ते मात्र अनगार धर्मामृतकी टीकामे निर्दिष्ट हैं। इनमे कुछ जैनेतर ग्रन्थ भी प्रतीत होते हैं जैसे संन्यास विधि, माघ काव्य, जातकर्म, भारत, रामायण।

मूलाराधनादर्पण नामक टीकामे दो उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं--एक ज्ञानावर्णिका, दूसरे प्राकृत पंच संग्रहका। प्राकृत पंच संग्रह प्राचीन है किन्तु इससे पहले उसके इस नामका निर्देश अन्य किसी भी

ग्रन्थमे नही देखा । नामोल्लेख किये बिना जो उद्धरण दिये गये ठे उनसे सम्बन्ध ग्रन्थ भी अनेक है यथा--
अष्टौपदेश, समाधितन्त्र, तत्त्वानुशासन, पंचास्तिकाय, आप्तसस्वरूप, वरांगचरित, चन्द्रप्रभचरित,
समयसारकलश, नयचक्र, मोम्मटसार कर्मकाण्ड, योगशास्त्र, सन्मतिसूत्र, भावसंग्रह, प्रमाणपरीक्षा,
अनर्धराघव नाटक, परमात्मप्रकाश, स्वयम्भूस्तोत्र, तत्त्वार्थसार, समवसरणस्तोत्र, ब्रम्हपुराण, वादन्याय
आदि । अनेक श्लोको और गाथाओका तो पता ही नही चलता कि किस ग्रन्थसे ली गयी है । उनकी
संख्या बहुत अधिक है । उक्त जैन ग्रन्थकारो और ग्रन्थोके सिवाय कुछ जैनेतर ग्रन्थकारोका भी निर्देश
मिलता है, यथा--

१. भद्र रू द्रट--अन. टी. (पृ. १४, २५५) मे भद्र रू द्रट तथा उनके काव्यालंकारका निर्देश है ।
साहित्य शास्त्रमे रू द्रट और उनके काव्यालंकारका विशेष स्थान है । इसीपर आशाधरजीने अपनी टीका
रची थी ।

२. वाग्भट--वाग्भटका आष्टागहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ आयुर्वेदका प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है ।
इसमे १२० अध्याय है । इसपर आशाधरजीने टीका रची थी । धर्माभूतकी टीकामे इसके अनेक उद्धरण पये
जाते है और यदाह वाग्भट (२३५) करके उनका नामोल्लेख भी है ।

३. वात्स्यायन--वात्स्यायनका कामसूत्र अति प्रसिद्ध है । पृ. २३८ मे इनके नामके साथ एक श्लोक
उद्धृत है जिसमे योनिमे सूक्ष्म जीव बतलाये है ।

४. मनु--मनु महारजकी मनुस्मृती अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है । पृ. २७४ आदिमे मनुस्मृतिके अनेक श्लोक
उद्धृत है ।

५. व्यास--महाभारतके रचयिता व्यास ऋषि प्रसिद्ध है । पृ. ३८९ मे इनके नामके साथ महाभारतसे
एक श्लोक उद्धृत है । इस प्रकार आशाधरजीने अनेक ग्रन्थकारो और ग्रन्थोका निर्देश किया है ।

ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमे आवश्यक प्रकाश डालनेके पश्चात् इसके अनुवादके सम्बन्धमे भी दो
शब्द लिखना आवश्यक है । स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्येने धर्माभूतके प्रकाशनकी एक योजना बनयी थी ।
उसीके अनुसार मैने इसके सम्पादन भारको स्वीकार किया था । योजनामे प्रथम प्रत्येक श्लोकका शाब्दिक
अनुवाद तदन्तर विशेषार्थ देनेका विधान है । विशेषार्थमे भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकामे आगत चर्चाओको बिना
विस्तरके संक्षेप रूपमे देना आवश्यक है । यदि आशाधरका किसी विषयपर अनर ग्रन्थकारासे मतभेद होतो
उसे भी स्पष्ट करना चाहिए तथा आवश्यक प्रमाण उद्धृत करना चाहिए इत्यादि बाते है । इन सबका ध्यान
रखते हुए ही मैने यह अनुवाद किया है । प्रारम्भमे ज्ञानदीपिका पंजिका प्राप्त नही हुई थी । प्राप्त होनेपर
उसका भी उपयोग यथयोग किया गया है । पं. आशाधरन अपन टीकामे आगत विषयके समर्थनमे
ग्रन्थान्तरोके इतने अधिक उद्धरण दिये है कि उन सबका समेटना ही कठिन होता है । मतभेद यदि कही
हुआ ता उसे भी स्वयं उन्होने ही स्पष्ट कर दिया है कि इस विषयमे अमुकका मत ऐसा है । आशाधर
किसी भी विषयमे आग्रही नही है । वे तो पूर्व परम्पराके सम्यक अध्येता और अनुगामी विद्वान रहे है ।
अस्तु,

खेद है कि डॉ. उपाध्ये इसका मुद्रण प्रारम्भ होते ही स्वर्गत हो गये । उनके जैसा साहित्यानुरागी
और अध्यवसायी ग्रन्थ-सम्पादक होना कठिन है । उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ । श्री दि.
जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी जयपुरके मन्त्रीजी तथा महावीर भवनके कार्यकर्ता डॉ. कस्तूरचन्दजी
काशजीवालके द्वारा हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती रहती है अतः उनके प्रति भी आभारी हूँ । भटारक श्री

यशःकिर्ती दि. जैन शास्त्र भण्डार श्री ऋषभदेवके श्री. पं. रामचन्द्रजी से ज्ञानदीपिकाकी एकमात्र प्रति प्राप्त हो सकी जिससे उसका प्रकाशन हो सका । अतः उनका विशेष रू पसे आभारी हूँ । भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री बा. लक्ष्मीचन्द्रजी, मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके व्यवस्थापक डॉ. गुलाबचन्द्रजीको भी उनके सहयोगके लिए धन्यवाद देता हूँ ।

श्री स्याद्धाद महाविद्यालय

भदौनी, वाराणसी

महावीर जयन्ती २५०३

---कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रथम अध्याय

नमः सिद्धेभ्यः

प्रणम्य वीरं परमावबोधमाशाधरो मुग्धविबोधनाय ।

ॐ गोप ह्यर्षी मृषर्षी शरच्छपवन्नि ष्टिप्रति ष्टि ॥१॥

तत्र

नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् ।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

इति मनसिकृत ग्रन्थकारः परमाराध्य- सिद्धार्हत्परमागमकर्तृव्याख्यादेशनाः स्वेष्वसिद्धयार्थं क्रमशः

सप्रश्रयमाश्रयते । तत्रादौ तावदात्मनि परमात्मनः परिस्फूर्तिमाशंसति इ हेत्वित्यादि---

हेतुद्वैतबलादुदीर्णसुदृशः सर्वसहाः सर्वश-

स्त्यक्त्वा संगमजस्त्रसुश्रुतपराः संयम्य साक्षं मनः।

ध्यात्वा स्वे शमिनः स्वयं स्वममलं निर्मुल्य कर्माखिलं,

ये शर्मप्रगुणैश्चकासति गुणैस्ते भान्तु सिद्धा मयि ॥ १ ॥

हेतुद्वैतबलात् - अन्तरङ्गबहिरङ्गकारणद्वयावष्टम्भात् । तदुक्तम् -

आसन्नभव्यता- कर्महानिसंज्ञित्व- शुद्धपरिणामाः ।

सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥

ध्यास्त्रके प्रारम्भमें आप्तका स्तवन करनेसे नास्तिकताका परिहार, शिष्टाचारका पालन और निर्विघ्न पुण्यकी प्राप्ती होती है।

मनमें ऐसा विचार कर ग्रन्थकार अपनी इष्टसिद्धिके लिए क्रमसे परम आराध्य सिद्ध परमेष्ठी, अर्हन्त परमेष्ठी, परमागमके कर्ता गणधर, व्याख्याता आचार्य और धर्मदेशनाका विनयपूर्वक आश्रय लेते हैं । उनमें - सैं सर्व - प्रथम आत्मामें परमात्माके प्रतिभासकी कामना करते हैं - हेत्वित्यादि ।

अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके बलसे सम्यक्त्वको प्राप्त करके समस्त अन्तरंग व बहिरंग परिग्रहोंको त्यागकर, समस्त उपसर्ग और परीषहोंको सहन करके निरन्तर स्वात्मोन्मुख संवित्तिरूप श्रुतज्ञानमें तत्पर होते हुए मन और इन्द्रियोंका नियमन करके जो समस्त द्रव्यभावकर्मोंको निर्मूलन करते हैं और सुख रूप प्रमुख गुणोंसे सर्वदा शोभित होते हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी मेरी आत्मामें भासमान हों इ स्वसंवेदनके द्वारा सुस्पष्ट हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ - यद्यपिअन्तरंग व बहिरंग कारणोंके बलसेइ यह पद सम्यग्दर्शनके साथ प्रयुक्तकिया गया है किन्तु यह पद आदि दीपक है और इसलिए आगेके समस्त परिग्रहका

१. उद्धृतमिदं सोमदेव उपासकाध्ययने षष्ठप्रस्तावे ।

धर्मामृत (अनगार)

एतच्च सङ्ख्यागादावपि यथास्वं व्याख्यातव्यं सकलकार्याणामन्तरङ्गबहिरङ्ग - कारणद्वयाधीनजन्मत्वात् ।
उदीर्णसुदृशः - अप्रतिपातवृत्त्या प्रवृत्तसम्यक्त्वाः । सर्वशः- सर्व सर्विकया संगं दशधा बाह्यं
चतुर्दशधाभ्यन्तरं च । व्याख्यास्यते च द्वयोरपि संगस्तद्ग्रन्थानबहिरित्यत्र । [४।१०५]

सर्वशः इत्यत्र शसा त्यागस्य प्राशस्त्यं द्योत्यते । तदुक्तम् -

अर्थिभ्यस्तृणवद् विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छिद्यं दत्तवान्

पापं तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात्परस्त्यक्तवान् ।

प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रही-

दित्येते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥ [आत्मानु. १०२]

त्याग, निरन्तर सम्यक्श्रुतमें तत्परता, इन्द्रिय और मनका नियमन, शुद्धात्माका ध्यान और समस्त कर्मोका निर्मूलन, इनके साथ भी लगा चाहिए; क्योंकि समस्तकार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणोंसे ही उत्पन्न होते हैं । उनमें से सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकटभव्यता आदि हैं और बाह्य कारण उपदेशक आदि हैं । कहा भी है - निकटभव्यता सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकने की योग्यता, संज्ञित्व और परिणामोंकी शुद्धता के सम्यग्दर्शनके अन्तरंग कारण हैं और उपदेशक आदि बाह्य कारण हैं । इसी तरह परिग्रह त्याग आदिके भी अन्तरंग और बहिरंग कारण जानने चाहिए । सम्यग्दर्शनमें आगत दर्शन शब्द दृश् धातुसे निष्पन्न हुआ है । यद्यपि दृश् धातुका प्रसिद्ध अर्थ देखना है किन्तु यहाँ श्रद्धान अर्थ लिया गया है क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं । कहा भी है ज्ञविद्वानोंने निपात, उपसर्ग और धातुको अनेक अर्थवाला माना है ।

कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध अर्थका त्याग क्यों किया ? उसका उत्तर है कि सम्यग्दर्शन मोक्षका कारण है अतः तत्त्वार्थका श्रद्धान आत्माका परिणाम है । वह मोक्षका कारण हो सकता है क्योंकि वह भव्य जीवोंके ही सम्भव है । किन्तु देखना तो आँखोंका काम है, और आँखें तो चौइन्द्रियसे लेकर सभी संसारी जीवोंके होती हैं अतः उसे मोक्षका मार्ग नहीं कहा जा सकता । अस्तु ,

सम्यग्दर्शनमें जो सम्यक् शब्द है उसका अर्थ प्रशंसा आदि है । तत्त्वार्थसूत्रकारने भी सम्यग्दर्शनका लक्षण इसी प्रकार कहा है- तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । दर्शन मोहनीय कर्मका उपशमादि होने पर आत्मामें जो शक्ति विशेष प्रकट होती है जिसके होनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, उस तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणतिको दर्शन कहते कहते हैं ।

आगममें मुमुक्षुओंके लिए सहन करने योग्य परीषहों और उपसर्गोंका कथन किया है उन्हें जो धैर्य आदि भावना विशेषके साहाय्यसे सहन करते हैं । अर्थात् अपने - अपने निमित्तोंके मिलने पर आये हुए परीषहों और उपसर्गोंसे महासात्त्विक और वज्रकाय होनेके कारण अभिभूत नहीं होते हैं, तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ देते हैं । चेष्टा और उपयोगरूप वृत्तिके द्वारा ममकार और अहंकार (मैं और मेरा) से जीव उसमें आसक्त होता है इसलिए परिग्रहको संग कहते हैं । सर्वशः शब्दमें प्रयुक्त प्रशंसार्थक शस् प्रत्ययसे त्यागकी उत्तमता प्रकट होती है । क्योंकि सभी मुक्तिवादी मतोंने समस्त परिग्रहके त्यागको मुक्तिका अंग अवश्य माना है । उसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती । इस उक्त कथन

१. निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः । अनेकार्थाः स्मृताः सभिः पाठस्तेषां निदर्शनम् ।

एतेन सभ्यक्त्वचारित्राराधनाद्वयमासूत्रितं प्रतिपत्तव्यम् । अजस्त्रसुश्रुतपराः -
संततस्वात्मोन्मुखसंवित्तिलक्षणश्रुतज्ञाननिष्ठाः । यदवोचत् स्वयमेव स्तुतिषु -

से संक्षेपरुचि शिष्योंकी अपेक्षा यहाँ ग्रन्थकारने सम्यक्त्व आराधना और चारित्र आराधनाको सूचित किया है । सम्यग्ज्ञानका सम्यग्दर्शनके साथ और तपका चारित्रके साथ अविनाभाव होनेसे उन दोनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है

सम्यग्दर्शनके साथ सम्यक्चारित्रको धारण करनेके पश्चात् साधुको निरन्तर सम्यक्श्रुतज्ञानमें तत्पर रहना चाहिए । अस्पष्ट ऊहापोहको श्रुतज्ञान कहते हैं । जब वह श्रुतज्ञान स्वात्मोन्मुख होता है, आत्मस्वरूपके चिन्तन ओर मननमें व्यापृत होता है तो वह सम्यक्श्रुत कहा जाता है । श्रुत शब्दश्रुद्धातुसे बना है जिसका अर्थ है सुनना । किन्तु जैसे दर्शनमें दृश् धातुका देखना अर्थ छोड़कर श्रद्धदान अर्थ लिया गया है उसी प्रकार श्रुतसे ज्ञानविशेष लिया गया है । अर्थात् श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर जिस आत्मामें श्रुतज्ञानकी शक्ति प्रकट हुई है और साक्षात् या परम्परासे मतिज्ञानपूर्वक होनेसे उसमें अतिशय आ गया है उस आत्माकी अस्पष्टरूपसे नाना अर्थोंके प्ररूपणमें समर्थ जो ज्ञानविशेषरूपपरिणति है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । कहा भी है --मतिज्ञान पूर्वक शब्द योजना सहित जोड़ ऊहापोह होता है वह श्रुतज्ञान है । इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है । मतिज्ञान पूर्वक जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है । मतिज्ञान होते ही जो श्रुतज्ञान होता है वह साक्षात् मतिज्ञान पूर्वक है और उस श्रुतज्ञानके बाद जो श्रुतज्ञान होता है वह परम्परा मतिज्ञान पूर्वक है । मतिज्ञानके बिना श्रुतज्ञान नहीं होता और मतिज्ञान होनेपर भी यदि श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम न हो तो भी श्रुतज्ञान नहीं होता । यद्यपि श्रुतज्ञान पाँचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए मतिज्ञान पूर्वक होता है तथापि संज्ञी पचेन्द्रिय जीवको होनेवाले श्रुतज्ञानमें शब्दयोजनाकी विशेषता है । शास्त्रीय चिन्तन शब्दको सुनकर चलता है । जैसे घमेरी एक आत्मा ही शाश्वत है । ज्ञान और दर्शन उसका लक्षण है । शेष मेरे सब भाव बाह्य हैं जो कर्मसंयोगसे प्राप्त हुए हैं । जीवने जो दुःख - परम्परा प्राप्त की है उसका मूल यह संयोग ही है अतः समस्त संयोग सम्बन्धको मन वचन कायसे त्यागता हूँ । इस आगम- वचनको सुननेसे मनमें जो आत्मोन्मुख विचारधारा चलती है वस्तुतः वही सम्यक्श्रुत है उसीमें साधु तत्पर रहते हैं । यहाँ पर शब्दका अर्थ प्रधान है । उससे यह अभिप्राय है कि श्रुत स्वार्थ भी होता है और परार्थ भी है । ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ है । सर्वदा स्वार्थश्रुतज्ञान भावनामें दत्तचित्त साधु भी कभी कभी अनादिवासनाके वशीभूत होकर शब्दात्मक परार्थ श्रुतमें भी लग जाते हैं । इस परार्थ श्रुतज्ञानकी अपेक्षा घ्जो सुनाड जाये उसे श्रुत कहते हैं । अतः श्रुतका अर्थ शब्द होता है । शोभनीय श्रुतको सुश्रुत कहते हैं अर्थात् शुद्धचिदानन्दस्वरूप आत्माका कथन और तद्विषयक पूछताछ आदि रूपसे मुमुक्षुओंके लिए अभिमत जो श्रुत है वही सुश्रुत है यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए । आचार्य

कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (३।३२-३३) में लिखा है कि साधु वही है जिसका मन एकाग्र है और एकाग्र मन वही हो सकता है जिसको आत्मतत्त्वका निश्चय है । यह निश्चय आगमसे होता है । अतः आगमके

अभ्यासमें लगना ही सर्वोत्कृष्ट है। साधुकेलिए स्व- परका ज्ञान तथा परमात्माका ज्ञान आवश्यक है अतः उसे ऐसे ही द्रव्यश्रुतका

स्वातमाभिमुखसंवित्तिलक्षणश्रुतचक्षुषाम् ।

पश्यन् पश्यामि देव त्वां केवलज्ञानचक्षुषा ॥

यच्छ्रुतं यथा -

एगो मे सस्सदा आदा णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

संजोगमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।

तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥ [मूलाचार ४८-४९]

इत्यादि। सेयं ज्ञानाराधना।

अभ्यास करना चाहिए जिसमें स्व और परके तथा परमात्माके स्वरूपका वर्णन हो। फिर ध्यानावस्थामें उसीका चिन्तन करना चाहिए। यह चिन्तन ही स्वार्थ श्रुतज्ञान भावना है। ग्रन्थकारने उसीको प्रथम स्थान दिया है तभी ता लिखा है कि सदा स्वार्थश्रुतज्ञान भावनामें संलग्न रहनेवाले साध भी अनादि वासनाके वशीभूत होकर परार्थ शब्दात्मक श्रुतमें भी उद्यत होते हैं, दूसरे साधुओंसे चर्चा वार्ता करते हैं - वार्तालाप करते हैं। यह व्यर्थका वार्तालाप रूप शब्दात्मक श्रुत वस्तुतः सु-श्रुत नहीं हैं। वही शब्दात्मक श्रुत वस्तुतः सुश्रुत है जिसकेद्वारा शुद्ध आत्म- तत्त्वका प्रतिपादन या पृच्छा वगैरह की जाती है। ऐसा ही सुश्रुत मुमुक्षुओंकेलिए इष्ट होता है। कहा भी है -

च्वही बोलना चाहिए, वी दूसरोंसे पूछना चाहिए, उसीकी इच्छा करनी चाहिए, उसीमें उद्यत होना चाहिए जिसके द्वारा अज्ञानमय रूपको छोड़कर ज्ञानमयरूप प्राप्त होता है^६

पूज्यपाद स्वीमीने इष्टोपदेशमें भी कहा है -

वह महत् ज्ञानमय उत्कृष्ट ज्योति अज्ञानकी उच्छेदक है। अतः मुमुक्षुओंके गुरुजनोंसे उसीके विषयमें पूछना चाहिए, उसीकी कामना करना चाहिए और उसीका अनुभव करना चाहिए। यह साधुओंकी ज्ञानाराधना है। छ ज्ञानाराधनाकेपश्चात् ग्रन्थकारने चारित्राराधनाका कथन करते हुए अक्ष और मनके नियमनकी बात कही है। पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१।१२) मेंअक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्माइ इस व्युत्पत्तिके अनुसार अक्षका अर्थ आत्मा किया है। उसी व्युत्पत्तिको अपनाकर ग्रन्थकारने अक्षका अर्थ इन्द्रिय किया है। यथायोग्य अपने आचरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर जिनके द्वारा स्पर्शादि विषयोंको आत्मा जानता है उन्हें अक्ष कहते हैं। वे अक्ष हैं लब्धि और उपयोग रूप स्पर्शन आदि भावेन्द्रियाँ। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं उसके होनेपर ही द्रव्येन्द्रियोंकी रचना होती है। उसके निमित्तसे जो आत्माका परिणाम होता है वह उपयोग है। ये लब्धि और उपयोग दोनों भावेन्द्रिय हैं।

नोइन्द्रियावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर द्रव्यमनसे उपकृत आत्मा जिसके द्वारा मूर्त और अमूर्त वस्तुको जानता है, गुण दोषका विचार, स्मरण आदिका

-
२. तद्ब्रूयात्तत्परान् पच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् । येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत् ॥
३. अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् । तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥

प्रथम अध्याय

संयम्य - तत्तद्विषयान्निवर्त्य । सैषा तप - आराधना । इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः इत्यभिधानात् । शमिनः - ध्यायर्षि (ध्येयेऽपि) वितृष्णाः सन्तः । अमलं- द्रव्य - भावकर्मनिर्मुक्तम् । सोऽयं ध्यात्वेत्यादिना निश्चयमोक्षमार्गः । उक्तं च -

धरयणत्तयं ण वड्डइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदविम्मि ।

तम्हा तत्तियमइओ हंदि (होदि) हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥३

[द्रव्यसं. ४० गा.]

निर्मूल्य -- मूलादपि निरस्य । कर्म - ज्ञानारणादिकं आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपं वा । शर्मप्रगुणैः - शर्म सुखं तदेव प्रकृष्टः सर्वेषामभीष्टतमत्वात्, गुणो धर्मो येषां ते तथोक्ताः परमानन्दामृतखचिता इत्यर्थः । चकासति - नित्यं दीप्यन्ते, नित्यप्रवृत्तस्य वर्तमानस्य विवक्षितत्वात् । गुणैः सभ्यक्त्वादिभिः । तद्यथा -

प्रणिधान रूपसे विकल्प करता है वह भावमन है । कहा भी है - आत्माको गुणदोषविचार, स्मरण आदि प्रणिधानको कहते हैं । और गुणदोषका विचार तथा स्मरणादि प्रणिधानके अभिमुख आत्माके अनुग्राहक पुद्गलोंके समूहको द्रव्यमन कहते हैं ।

यह तप आराधना है क्योंकि इन्द्रिय और मनके द्वारा नियमके अनुष्ठानका नाम तप है । ऐसा आगममें कहा है । यह व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

आगेध्यात्वाइत्यादि पदोंके द्वारा ग्रन्थकारने निश्चय मोक्षमार्गका कथन किया है । एक ही विषयमें मनके नियमनको ध्यान कहते हैं । जब चिन्ता के अनेक विषय होते हैं तो वह चंचल रहती है, उसको सब ओर से हटाकर एक ही विषयमें संलग्न करना ध्यान है । इस ध्यानका विषय द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित तथा मिथ्याअभिनिवेश, संशय विपर्यय अनध्यवसायमें रहित ज्ञानस्वरूप या परम औदासीन्यरूप निर्मल आत्मा होती है । ऐसी आत्माका ध्यान करनेवाले आनन्दसे ओतप्रोत शुद्ध स्वात्मानुभूतिके कारण अत्यन्त तृप्त होते हैं । ध्येयमें भी उनकी वितृष्णा रहती है । कहा भी है - अधिक कहनेसे क्या ? तात्त्विक रूपसे श्रद्धादान करके तथा जानकर ध्येयमें भी मध्यस्थभाव धारण करके इस समस्त तत्त्वका ध्यान करना चाहिए । यह निश्चय मोक्षमार्ग है । द्रव्यसंग्रहमें कहा है - आत्माके सिवाय अन्य द्रव्यमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप रत्नत्रय नहीं रहता । इसलिए रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्षका कारण है ।

मोक्षकी प्राप्ति कर्मोंका निर्मूलन किये विना नहीं होती । मिथ्यादर्शन आदिसे परतन्त्र आत्माके द्वारा जो किया जाता है - बाँधा जाता है उसे कर्म कहते हैं । आत्माकी परतन्त्रतामें निमित्त ज्ञानावरण आदि अथवा आत्मप्रदेशोंके हलनचलनरूप कर्मको कर्म कहते हैं । समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म या घातिकर्म और अघातिकर्मका क्षय करके अनादि मिथ्यादृष्टि या सादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव अनन्तज्ञान आदि जिन आठ

गुणोंसे सदा शोभित होते हैं उनमें सबसे उत्कृष्ट गुण सुख है क्योंकि सभी उसे चाहते हैं । मोहनीय कर्मके क्षयसे परम सम्यक्त्व

१. गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः ।
तदभिमुखस्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः ॥ - इष्टोप. ४९ ।
२. किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः ।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थं तत्र बिभ्रता ॥ - तत्त्वानु. १३८ श्लोक ।

धसम्मत्तणाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव ओगहणं ।

अगुरुगलहुगमवाहं अड्ड गुणा होंति सिध्दानं^९ [भावसंग्रह ६९४ गा.]

भान्तु - परिस्फुरन्तु स्वसंवेदनसुव्यक्ताः सन्त्वित्यर्थः । सिध्दाः - सिध्दिः स्वात्मोपलब्धिरेषामतिशयेनास्तीति । अर्श आदित्वादः । त एते नोआगमभावसिध्दा द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तत्वात् । तथा चोक्तम् -संसाराभावे पुंसः स्वात्मलाभो मोक्षः इति । मयि ग्रन्थकर्तर्यात्मनि ॥ १ ॥

या परम सुख प्राप्त होता है, ज्ञानावरणके क्षयसे अनन्तज्ञान और दर्शनावरणके क्षयसे अनन्तदर्शन गुण प्रकट होते हैं । अन्तरायकर्मके क्षयसे अनन्तवीर्य प्रकट होता है, वेदनीयकर्मके क्षयसे अव्याबाधत्व गुण या इन्द्रियजन्य सुखका अभाव होता है, आयुर्कर्मके क्षयसे परमसौख्य की प्राप्ति या जन्ममरणका विनाश होता है । नामकर्मके क्षयसे परम अवगाहना या अमूर्तत्व प्रकट होता है । गोत्रकर्मके क्षयसे अगुरुलघुत्व यश दोनों कुलोंका अभाव प्राप्त होता है । इस तरह जिन्होंने स्वात्मोपलब्धि रूप सिध्दिको प्राप्त कर लिया है वे सिध्द सर्वप्रथम ग्रन्थकारकी आत्मामें और पश्चात् उसके पाठकोंकी आत्मामें स्वसंवेदनके द्वारा सुस्पष्ट होंगे यह ग्रन्थकारकी भावना है ।

सारांश यह है कि अन्तरंग व बहिरंग कारणके बलसे सम्यग्दर्शनको करके फिर समस्त परिग्रहको त्याग कर सदा सम्यक् श्रुतज्ञानकी भावनामें तत्पर रहते हुए समस्त इन्द्रियों और मनको अपने - अपने विषयोंसे हटाकर अपनी शुध्द आत्माको शुध्द आत्मामें स्थिर करके उसमें भी तृष्णारहित होकर, घातिकर्मोंको नष्ट करके स्वाभाविक निश्चल चैतन्य स्वरूप होकर, पुनः अघातिकर्मोंको भी नष्ट करके लोकके अग्रभागमें स्थिर होकर जो दा केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व और सिध्दत्वभावसे शोभित होते हैं वे भगवान सिध्द परमेष्ठी नोआगमभाव रूपसे मेरेमें स्वात्माका दर्शन देवें । अर्थात् मैं उस सिध्द स्वरूपको प्राप्त कर सकूँ ।

अर्हन्त आदिके गुणोंमें सभी प्रकारका अनुराग शुभ परिणाम रूप होनेसे अशुभ कर्मप्रकृतियोंमें रसकी अधिकताका उन्मूलन करके वांछित अर्थको प्राप्त करनेमें सहायक होता है इसलिए विचारशील पूर्वाचार्य अपने ज्ञानसम्बन्धी दानान्तराय कर्मको और श्रोताओंके ज्ञानसम्बन्धी लाभान्तराय कर्मको दूर करनेके लिए अपने - अपने शास्त्रके प्रारम्भमें अर्हन्त आदि समस्त पश्चपरमेष्ठियोंका या उनमेंसे किसी एकका अथवा उनके गुणोंका इच्छानुसार संस्तवनरूप मंगल करते हुए पाये जाते हैं इस शास्त्रके प्रारम्भमें

भी ग्रन्थकारने अपने और दूसरोंके विघ्नोंकी शान्तिके लिए सर्वप्रथम सिद्धोंका, उनके पश्चात् अर्हन्त आदिका विनयकर्म नान्दीमंगलरूप से किया है।

तथा, जो जिस गुणका प्रार्थी होता है वह उस गुणवाले का आश्रय लेता है इस नियमके अनुसार चूँकि ग्रन्थकार सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके प्रार्थी हैं अतः प्रथम सिद्धोंकी वन्दना करते हैं तथा उनकी प्राप्तिके उपायोंका उपदेश करनेवालोंमें सबसे ज्येष्ठ अर्हन्तपरमेष्ठी होते हैं अतः सिद्धोंके पश्चात् अर्हन्त आदिका भी स्मरण करते हैं। कहा भी है -

१. ध्रुवमभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥३॥

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें उद्धृत

अथैवं तद्गुणग्रामस्य सहसा प्राप्त्यार्थितया प्रथमं सिद्धानाराध्य इदानीं तदुपायोपदेशकज्येष्ठतया त्रिजगज्ज्येष्ठतया त्रिजगज्ज्येष्ठमर्हद्भृङ्गरकमखिलजगदेकशरणं प्रपत्तुमनाः श्रेयोमार्गानभिज्ञान् ३ इत्याद्याह

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदाव -

स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् ।

इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसभ्दावनोपात्तपुण्य -

प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्त्रि योऽर्हन् नोऽव्यात् ॥ २ ॥

छ्ष्ट फकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञानसे प्राप्त होता है, सम्यग्ज्ञान शास्त्रसे प्राप्त होता है, शास्त्रकी उत्पत्ति आप्तसे होती है इसलिए आप्तके प्रसादसे प्रबुद्ध हुए लोगोंके द्वारा आप्त पूज्य होता है क्योंकि साधुजन किये हुए उपकारको भूलते नहीं हैं^६

इसके सिवाय, शीघ्र मोक्षके इच्छुकको परमार्थसे मुक्तात्माओंकी ही भक्ति करनी चाहिए, यह उपदेश देनेके लिए ग्रन्थकारने प्रथम सिद्धोंकी आराधना की है। कहा भी है -

संयम और तपसे संयुक्त होनेपर भी जिसकी बुद्धिका रुझान नवपदार्थ और तीर्थकार की ओर हो तथा जो सूत्रोंमें रुचि रखता है उसका निर्वाण बहुत दूर है। इसलिए मोक्षार्थी जीव परिग्रह और ममत्वको छोड़कर सिद्धोंमें भक्ति करता है उससे वह निर्वाणको प्राप्त करता है। अर्थात् शुद्ध आत्मद्रव्यमें विश्रान्ति ही परमार्थसे सिद्धभक्ति है उसीसे निर्वाणपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार सिद्धोंके गुणोंकी प्राप्ति इच्छुक होनेसे प्रथम सिद्धोंकी आराधना करके ग्रन्थकार आगे उसके उपायोंका उपदेश करनेवालोंमें ज्येष्ठ होनेसे तीनों लोकोंमें उनका स्मरण करते हैं -

- इस भवरूपी भीषण वनोंमें दुःखरूपी दावानल बड़े जोरसे जल रही है और श्रेयोमार्गासे अनजान ये बेचारे प्राणी अत्यन्त भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। मैं इनका उद्धार करूँ इस बढते हुए परोपकारके रससे विशंषरूपसे शोभित भावनासे सेचित पुण्यसे उत्पन्न हुए वचनोंके द्वारा जो उसके योग्य प्राणियोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं वे अर्हन्तजिन हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

विशेषार्थ - जिसमें जीव चार गतियोंसे भ्रमण करते रहते हैं तथा प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और धौव्यरूप वृत्तिका आलम्बन करते हैं उसे भव या संसार कहते हैं। यह भव जो हमारे सम्मुख विद्यमान है नाना दुःखोंका कारण होनेसे भीषण बनकेतुल्य है इसमें होनेवाले शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा सहज दुःख दावानलके समान हैं। जैसे वनमें लगी आग वनके प्राणियोंको शारीरिक और मानसिक कष्टके साथ अन्तमें उनका विनाश ही कर देती है वैसे ही ये संसारके दुःख भी अन्तमें विनाशक ही होते हैं। यह दुःख ज्वाला बड़ी तेजीसे रह- रहकर प्रज्वलित होती है इससे भयभीत होकर भी बेचारे प्राणी इधर - उधर भटकते हुए उसीकी ओर चले जाते हैं क्योंकि उन्हें श्रेयोमार्गका ज्ञान नहीं है। श्रेय है मोक्ष,

9. समयत्थं तित्थयरं अधिगतबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स । दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ॥

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य भविय पुणो । सिध्देसु कुणादि भत्ती णिव्वाणं तेण पप्पोदी ॥

- पञ्जस्तिकाय १७०-१६३

श्रेयोमार्गः - मुक्तिपथः प्रशस्तमार्गश्च । जाज्वलन् - देदीप्यमानः । दावः - दवाग्निः । चक्रम्यमाणान् - कुटिलं क्रमतः । दुःखदावाग्निमुखं गच्छत इति भावः । उध्दरेयम् इ तादृग्भवगहननिस्सरणो- पायोदेशेन उपकुर्याम्यहम् । अहं सप्तमी । सैषा तीर्थकरत्वभावना । तथा चोक्तमार्षे गर्भान्विक्रियाप्रक्रमे -

घमौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थीकृतवस्य भावना ।

गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥ इति । [महापु. ३८।५८] ॥ ॥ ॥ ॥

आरोहदित्यादि । आरोहन् क्षणे क्षणे वर्धमानः, परेषामनुग्राह्य देहिनापनूग्रहः उपकारस्तस्य रस- प्रकर्षस्तद्भवहर्षो वा, तेन विलसन्त्यो विशेषेणानन्यसामान्यतया द्योतमाना भावनाः परमतीर्थकरत्वाख्यानाम- कारणभूताः षोडशदर्शनविशुद्धयादिनमस्कारसंस्काराः ताभिरुपात्तमुपार्जितं पुण्यं तीर्थकरत्वाख्यः सुकृतविशेषः तेन केवलज्ञानसन्निधानलब्धोदयेन प्रव्रन्तैः प्रारब्धैः, तत्प्रकान्तैरेव न विवक्षादिजनितैः, वीतरागे भगवति तद्धिरोधात् । तथा चोक्तम् -

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्टद्वयं,

नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरू ध्दक्रमम् ।

शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,

तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्ण वचः ॥ [समवसरणस्तोत्र ३०] इति ।

संसारकेबन्धनसे छूटकर जीव जो स्वरूप लाभ करता है उसीको श्रेय या मोक्ष कहते हैं। उसका मार्ग या प्राप्तिका उपाय व्यवहारनयसे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है किन्तु निश्चयनयसे रत्नत्रयमय स्वात्मा ही मोक्षका मार्ग है। इससे या तो वे बिलकुल ही अनजान हैं या निःसंशय रूपसे नहीं जानते अथवा व्यवहार और निश्चय रूपसे पूरी तरह नहीं जानते। उन्हें देखकर जिनके मनमें यह भावना उठती है कि नाना प्रकारके दुःखोंसे पीडित इन तीनों लोकोंके प्राणियोंका मैं उध्दार करूँ, उन्हें इन दुःखोंसे छूटनेका उपाय बतलाऊँ। यह भावना ही मुख्यरूपसे अपायविचय नामक धर्मध्यानरूप तीर्थकर भावना है। महापुराणमें गर्भान्वय क्रियाकेवर्णनमें तीर्थकर भावनाका उल्लेख है।

८ में एक साथ तीनों लाकोंका उपकार करनेमें समर्थ बन्नू छ इस प्रकारकी परम करुणासे अनुरंजित अन्तश्चंतन्य परिणाम प्रतिसमय वर्धमान होनेसे परोपकारका जब आधिक्य होता है उससे दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावनाएँ सभीके नहीं होती, इनका होना दुर्लभ है। तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध करनेके पश्चात् केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर बिना इच्छाके भगवान् अर्हन्तकी वाणी खिरती है। चूँकि वे वीतराग होते हैं अतः वहाँ विवक्षा - बोलनेकी इच्छा नहीं होती। कहा भी है इ छ्जो समस्त प्राणियोंके लिए हितकर है, वर्णसहित नहीं हैं, जिसके बोलते समय दोंनों ओष्ठ नहीं चलते, जो इच्छा पूर्वक नहीं हैं, न दोषोंसे मलिन हैं, जिनका क्रम श्वाससे रुद्ध श्रोता सुनते हैं, समस्त विपत्तियोंको नष्ट कर देनेवाले सर्वज्ञ देवके अपूर्व वचन हमारी रक्षा करें" आचार्य जिनसेन स्वामीने अपने महापुराण (२३।६९-७३) में लिखा है कि भगवान्के मुखरू पी कमलसे मेघोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली दिव्यध्वनि निकल रही थी। यद्यपि वह एक प्रकार की थी तथापि सर्वभाषारू प परिणमन करती थी

२. समवसरण स्तोत्र ३०।

वाक्यैः - दिव्यध्वनिभिः। उक्तं चः

पुव्वणहे मज्झणहे अवरणहे मज्झिमाए रत्तीए।

छच्छघडियाणिग्गय दिव्वज्जुणी कहइ सुत्तथे ॥

उचितान् - योग्यान् सभासमायामतभव्यानित्यर्थः। - अर्हन् - अरिहननात् रजोरहस्यहरणाच्च परिप्राप्ता-नन्तचतुष्टयस्वरू पः सन् इन्द्रादिनिर्मितामतिशयवती पूजामर्हतीति निरुक्तिविषय ॥ २ ॥

अथेदानीमर्हद्भट्टरकोपदिष्टार्थसमयग्रन्थकत्वेन सकलजगदुपकारकान् गणधरदेवादीन् मनसि निघत्ते इ

सूत्रग्रथो गणधरानभिन्नदशपूर्विणः।

प्रत्येकबुध्दानध्येमि श्रुतकेवलिनस्तथा ॥ ३ ॥

सूत्रग्रथः - सूत्रमर्हद्भासितमर्थसमयं ग्रथन्ति अङ्पूर्वप्रकरू पेण रचयन्तीत्येतान्। गणधरान् गणान् द्वादश यत्यादीन् जिनेन्द्रसभ्यान् धारयन्ति मिथ्यादर्शनादी (मिथ्यादर्शनादेर्विनिवृत्य सम्यग्दर्शनादी) स्थाप-

आगे आचार्यने लिखा कि कोई लोग ऐसा कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवोंके द्वारा की जाती है किन्तु ऐसा कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा कहनेमें भगवान्के गुणका घात होता है। इसके सिवाय दिव्यध्वनि साक्षर होती है क्योंकि लोकमें अक्षरोंके समूहके विना अर्थका ज्ञान नहीं होता।

यह दिव्य ध्वनि प्रातः, मध्यह्न, सायं और रात्रिके मध्यमें छह घडी तक अर्थात् एक बारमें एक घण्टा ४४ मिनिट तक खिरती है, ऐसा आगममें कथन है।

अर्हन्त परमेष्ठी इस दिव्य ध्वनिके द्वारा मोक्षमार्गकी जिज्ञासासे समवसरणमें समागत भव्य जीवोंका उपदेश देते हैं। कहा भी है - दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंसे बाँधे गये तीर्थकर पुण्य कर्मके उदयसे भगवान् तीर्थकर अर्हन्त जिज्ञासु प्राणियोंको इष्ट वस्तुको देनेवाले और संसारकी पीडाकी हरनेवाले तीर्थका उपदेश देते हैं। अरि - मोहनीय कर्मका हनन करनेसे अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मका घात करनेसे उन्हें अरिहन्त कहते हैं और उक्त कर्मोंका नष्ट करके अनन्तचतुष्टय स्वरू पको

प्राप्त कर लेनेसे इन्द्रादिके द्वारा निर्मित अतिशय युक्त पूजाके पात्र होनेसे अर्हन्त कहते हैं । वे अर्हन्त हमारी रक्षा करें - अभ्युदय और मोक्षसे भ्रष्ट करनेवाली बुराइयोंसे हमें बचावें ॥ २ ॥

आगे अर्हन्त भगवान्केद्वारा उपदिष्ट अर्थको शास्त्रमें निबद्ध करनेकेद्वारा सकल जगत्केउपकारक गणधर देव आदिका स्मरण करते हैं -

सूत्रोंकी रचना करनेवाले गणधारों, अभिन्न दसपूर्वियों, प्रत्येक बुद्धों और श्रुतकेवलियोंका मैं ध्यान करता हूँ ॥ ३ ॥

विशेषार्थ - जिनेन्द्रदेवके समवसरणमें आये हुए मूनि आदि बारह गणोंको जो धारण करते हैं, उन्हें मिथ्यात्व आदिसे हटाकर सम्यग्दर्शन आदिमें स्थापित करते हैं उन्हें गणधर या धर्माचार्य कहते हैं । वे अर्हन्त भगवान्केद्वारा उपदिष्ट अर्थकी बारह अंगों और चौदह पूर्वोंमें रचना करते हैं । दशपूर्वी भिन्न और अभिन्नके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । उनमेंसे जो ग्यारह अंगोंको पढकर पुनः परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका इन पाँच अधिकारोंमें निबद्ध बारहवें दृष्टिवाद अंगको पढते समय जब उत्पादपूर्वसे लेकर दसवें

३. दृग्विशुद्धयाद्युत्थतीर्थकृत्वपुण्योदयात् स हि ।

शास्त्यायुष्मान् सतोऽर्तिघ्नं जिज्ञासूंस्तीर्थमिष्टदम् ॥

यन्तीत्येतान् धर्माचार्यान् । अभिन्नदशपूर्विणः - अभिन्नाः विद्यानुवादपाठे स्वयमायातद्वादशशतविद्याभिर - प्रच्यावितचारित्रास्ते च त दशपूर्वाण्युत्पादूर्वादिविद्यानुवादान्तान्येषां सन्तीति दशपूर्विणश्च तान् । प्रत्येक - बुद्धान् - एकं केवलं परोपदेशनिरपेक्षं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्रतीत्य बुद्धान् संप्राप्तज्ञानातिशयान् श्रुतकेवलिनः - समस्तश्रुतधारिणः ॥ ३ ॥

अधुना जिनागमव्याख्यातृनारातीयसूरीनभिष्टौति -

ग्रन्थार्थतो गुरुपरम्परया यथावच्छ्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान् ।

ये ग्राहन्त्युभयनीतिबलेन सूत्रं रत्नत्रयप्रणयिनो गणिनः स्तुमस्तान् ॥ ४ ॥

ग्राहयन्ति - निश्चाययन्ति, उभयनीतिबलेन - उभयी चासौ नीतिः - व्यवहारनिश्चयद्वयी, तदवष्टम्भेन गणिनः - श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रभृतीन् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

पूर्व विद्यानुवादको पढते हैं तो विद्यानुवादके समाप्त होनेपर सात सौ लघुविद्याओंके साथ पाँच सौ महाविद्याएँ उपस्थित होकर पूछती हैं - भगवान् ! क्या आज्ञा है ? ऐसा पूछने पर जो उनके लोभमें आ जाता है वह भिन्न दसपूर्वी होता है । किन्तु जा उनके लोभमें नहीं आता और कर्मक्षयका ही अभिलाषी रहता है वह अभिन्न दसपूर्वी है । परोपदेशसे निरपेक्ष जो श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषसे स्वयं ज्ञानातिशयको प्राप्त होते हैं उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं । समस्त श्रुतके धारीको श्रुतकेवली कहते हैं । वे श्रुतज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ केवलज्ञानीके सदृश होते हैं और केवलज्ञान प्रत्यक्ष होता है । ये सब - गणधर, अभिन्नदसपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और श्रुतकेवली ग्रन्थकार उनके ग्रन्थकारता और गणधरपना आदि गुणोंका प्रार्थी होकर उनका ध्यान करता है तथा उन्हें अपना ध्येय- ध्यानका विषय - निश्चय करके ध्यानमें प्रवृत्त होता है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आगममें (मूलाराधना गा. ३४, मूलाचार ५।८०) गणधर, प्रत्येकबुध्द, अभिन्नदसपूर्वी और श्रुतकेवलीके द्वारा रचितको ही सूत्र कहा है । उसीको दृष्टिमें रखकर आशाधरजीने सूत्र ग्रन्थके रू पमें उनका स्मरण किया है । यहाँ सूत्रकारपना और गणधरपना या प्रत्येकबुध्दापना या श्रुतकेवलीपना दोनों ही करणीय हैं । अतः उन गुणोंकी प्राप्ति की इच्छासे ध्यान करनेवालेकेलिए वे ध्यान करनेकेयोग्य हैं ऐसा निश्चय होनेसे ही उनकेध्यानमें ध्याताकी प्रवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

आगे जिनागमके व्याख्याता आरातीय आचार्योंका स्तवन करते हैं -

जो गुरु परम्परासे ग्रन्थ, अर्थ और उभयरू पसे सूत्रको सम्यक् रीतिसे सुनकर और अवधारण करकेसंसारसे भयभीत शिष्योंको दोनों नयोंकेबलसे ग्रहण कराते हैं, रत्नत्रयरू प परिणत उन आचार्योंका मैं स्तवन करता हूँ ॥ ४ ॥

विशेषार्थ - यहाँ ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आदि धर्माचार्योंकी वन्दना करते हैं ।उस उस जातिमें जो उत्कृष्ट होता है उसे उसका रत्न कहा जाता है, इस कथनके अनुसार जीवके परिणामोंके मध्यमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रू प परिणाम उत्कृष्ट हैं क्योंकि वे सांसारिक अभ्युदय और मोक्षके प्रदाता हैं इसलिए उन्हें रत्नत्रय कहते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द आदि धर्माचार्य रत्नत्रयके धारी थे - उनका रत्नत्रयके साथ तादात्म्य सम्बन्ध था अतः वे रत्नत्रय रू प परिणत थे । तथा उन्होंने तीर्थकर, गणधर आदि की शिष्य-

अथ धर्मोपदेशमभिनन्दति -

धर्म केऽपि विदन्ति तत्र धुनते सन्देहमन्येऽपरे,

तद्भ्रान्तेरपयन्ति सुष्ठु तमुशन्त्यन्येऽनुतिष्ठन्ति वा ।

श्रोतारो यदरनुग्रहादहरहर्वक्ता तु रुन्धन्नघं,

विष्वग्निर्जरंश्च नन्दति शुभैः सा नन्दतादेशना ॥ ५ ॥

विदन्ति - निश्चिन्वन्ति, उशन्ति - कामयन्ते, रुन्धन्नघं, विष्वक् इ समन्तादागामिपाततकंनिवार -

प्रशिष्य रू प चली आती परम्परा से सूत्रको सुना और अवधारण किया था । सत्य सयुक्तिक प्रवचनको सूत्र कहते हैं । इस समय यहाँ पर गणधर आदिके द्वारा रचित अंगप्रविष्टका कुछ अंश और आरातीय आचार्योंक द्वारा रचित अंगबाह्य, जो कि कालिक उत्कालिक भेदसे अनेक प्रकार है घसूत्रड शब्दसे ग्रहण किया गया है । जिसका स्वाध्याय काल नियत होता है उसे कालिक श्रुत कहते हैं और जिसका स्वाध्यायकाल नियत नहीं होता उसे उत्कालिक कहते हैं । उस सूत्रको वे आचार्य ग्रन्थ रू पसे, अर्थरू पसे और उभयरू पसे सुनते हैं । विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन करनेमें समर्थ जो सूत्र, प्रकरण या आहि आदि रू पसे वचन रचना की जाती है उसे ग्रन्थ कहते हैं और उसका जो अभिप्राय होता है उसे अर्थ कहते हैं । वे धर्माचार्य कभी ग्रन्थ रू पसे, कभी अर्थ रू पसे और कभी ग्रन्थ और अर्थ दोनों रू पसे सूत्रको ठीक-ठीक सुनकर तथा उसकी जितनी विशेषताएँ हैं उन सबको ऐसा अवधारण करते हैं कि कालान्तरमें भी उन्हें भूले नहीं । तभी तो वे संसारसे भयभीत शिष्योंको उसका यथावत् ज्ञान कराते हैं । यथावत् ज्ञान करानेके लिए वे नयबलका आश्रय लेते हैं । आगमकी भाषामें उन्हें द्रव्यार्थिक न और पर्यायार्थिक नय कहते हैं और अध्यात्मकी भाषामें निश्चयनय और व्यवहार नय कहते हैं । श्रुतज्ञान जाने

गये पदार्थके एकदेशको जानेवाले ज्ञान या उसके वचनको नय कहते हैं । नय श्रुतज्ञानके ही भेद हैं और नयोंके मूल भेद दो हैं । शेष सब नय उन्हींके भेद- प्रभेद हैं । दोनों ही नयोंसे वस्तु तत्त्वका निर्णय करना उचित है यही उनका बल है । उसीके कारण सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा उस निर्णीत तत्त्वमें बाधा नहीं दी जा सकती । ऐसे जिनागमके व्याख्याता आरातीय आचार्य वन्दनीय हैं । प्रत्येक आचार्य आरातीय नहीं होते । उक्त विशेषताओंसे युक्त आचार्य ही आरातीय कहलाते हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार सिद्ध भगवान्के स्वरूपका तथा उसकी प्राप्तिके उपायका कथन करनेमें समर्थ परमागमके उपदेष्टा, रचयिता और व्याख्याता होनेसे जिन्होंने अत्यन्त महान् गुरु संज्ञाको प्राप्त किया है, उन अर्हन्त भट्टरक, गणधर, श्रुतकेवली, अभिन्नदसपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और इस युगके धर्माचार्योंकी स्तुति करके अब वक्ता और श्रोताओंका कल्याण करनेवाले उनके धर्मोपदेश का स्तवन करते हैं -

जिस देशना - धर्मोपदेशके अनुग्रहसे प्रतिदिन अनेक श्रोतागण धर्मको ठीक रीतिसे जानते हैं, अनेक श्रोतागण अपने सन्देहको दूर करते हैं, अनेक अन्य श्रोतागण धर्मविषयक भ्रान्तिसे बचते हैं, कुछ अन्य श्रोतागण धर्म पर अपनी श्रद्धाको दृढ करते हैं तथा कुछ अन्य श्रोतागण धर्मका पालन करते हैं, और जिस देशनाके अनुग्रहसे वक्ता प्रतिदिन अपने शुभ- परिणामोंसे आगामी पापबन्धको चहुँ ओरसे रोकता है और पूर्व उपार्जित कर्मकी निर्जरा करता हुआ, आनन्दित होता है वह देशना फुले- फले - उसकी खूब वृद्धि हो ॥ ५ ॥

विशेषार्थ - जिसके द्वारा जीव नरक आदि गतियोंसे निवृत्त होकर सुगतिमें रहते हैं

यग्नित्यर्थः। निर्जरयन् ---- पुरार्जितपातकमेकदेशेन क्षपयन् । शुभैः--- अपूर्वपुण्यैः : पूर्वार्जितपुण्यपक्त्रिम-
कल्याणैश्च ॥५॥

अथैवं भगदिसिद्धादिगुणगणस्तवनलक्षणं मुख्यमङ्गलमभिधाय इदानीं प्रमाणगर्भभिधेयव्यपदेश
मुखप्रकाशितव्यपदेशं शास्त्रविशेष कर्तव्यतया प्रतिजानीते ---

या जो आत्माको सुगतिमें धरता है --- ले जाता है उसे धर्म कहते हैं । यह धर्म शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है जो व्यावहारिक धर्मका सूचक है। यथार्थ तो जो जीवोंको संसारके दुखोसे छुडाकर उन्हे उत्तम सुख रूप मोक्ष गतिमें ले जाता है वही धर्म है। वह धर्म रत्नत्रयस्वरूप है, अथवा मोह और क्षोभसे रहित आत्मपरिणाम स्वरूप है, अथवा वस्तुका यथार्थस्वभाव ही उसका धर्म है या उत्तम क्षमा आदि दसलक्षण रूप है। ऐसे धर्मके उपदेशको देशना कहते हैं । देशनाको सुनकर अपने क्षयोपशमके अनुसार श्रोतामें जो अतिशयका आधान होता है यही उस देशनाका अनुग्रह या उपकार है। श्रोता अनेक प्रकारके होते हैं । जिन भव्य श्रोताओके तीव्र ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है वे धर्मोपदेश सुनकर धर्मका यही स्वरूप है या धर्म ऐसा ही होता है ऐसा निश्चय करते हैं इस तरह उनका धर्मविषयक अज्ञान दूर होता है। जिन श्रोताओके ज्ञानावरण कर्मका मन्द उदय होता है वे देशनाको सुनकर धर्मविषयक सन्देहको --- यही धर्म है या धर्मका अन्य स्वरूप है, धर्म इसी प्रकार होता है ऐसे या अन्य प्रकार होता है ---- दूर करते हैं। जिनके ज्ञानावरण कर्मका मध्यम उदय होता है ऐसे श्रोता उपदेशको सुनकर धर्मविषयक अपनी भ्रान्तिसे --- धर्मके यथोक्त स्वरूपको अन्य

प्रकारसे समझ लेनेसे--- विरत हो जाते हैं। अर्थात् धर्मको ठीक- ठीक समझने लगते हैं। ये तीनों ही प्रकारके श्रोता भद्रपरिधामी मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यक्त्वे विषयमें अव्युत्पन्न होते हैं। क्रूर परिणामी मिथ्यादृष्टि तो उपदेशका पात्र ही नहीं है।

जो सम्यदृष्टि भव्य होते हैं, उपदेशको सुनकर उनकी आस्था और दृढ हो जाती है कि यह ऐसा ही है। जो उनसे भी उत्तम सम्यदृष्टि होते हैं वे उपदेशको सुनकर उसके आचरणमें तत्पर होते हैं। प्रतिदिन उपदेश सुननेसे श्रोताओके प्रतिदिन यह लाभ होता है। वक्ताको भी लाभ होता है। पूर्वार्जित पुण्य कर्मके विपाकसे होनेवाले शुभपरिणामोंसे ज्ञानावरण आदि कर्म रूप आगामी पाप कर्म रूप होनेके योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ उस रूपसे परिणमन करती वे तद्रूप परिणमन नहीं करती हैं। इस तरह वक्ताके केवल कर्मको बन्धका निरोध ही होता हो ऐसा नहीं है, पूर्व संचित पापकर्मका भी एकदेशसे क्षय होता है। सारांश यह है कि देशना धर्मोपदेश रूप होनेसे स्वाध्याय नामक तपका भेद है अतः अशुभ कर्मोंके संवर के साथ निर्जराके होनेपर भी वक्ताका देशनामें प्रशस्त राग रहता है अतः उस प्रशस्त रागके योगसे प्रचुर पुण्य कर्मका आस्त्रव होता है और पूर्व पुण्य कर्मके विपाककी अधिकतासे नवीन कल्याण परम्पराकी प्राप्ति होती है ॥५॥

इस प्रकार भगवान् सिद्धपरमेष्ठी आदिके गुणोंका स्मरणरूप मुख्य मंगल करके अब

१. रत्न. श्रा., २ श्लो.। २. प्रवचनसार, गा. ७।

धर्मो वत्सुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥--- स्वा. कीर्ति. ४/७८ गा.

अथ धर्माभूतं पद्यद्विसहस्र्या दिशाम्यहम् ।

निर्दुःख सुखमिच्छन्तो भव्याः श्रुणुत धीधनाः ॥६॥

अथ --- मङ्गले अधिकारे आनन्तर्ये वा । धर्माभूतं --- धर्मो वक्ष्यमाणलक्षणः योऽभूतमिवोपयोक्तृणामजरामरत्वहेतुत्वात् । तदभिधेयमनेनेतीदं शास्त्रं धर्माभूतमिति व्यपदिश्यते । श्रूयन्ते चाभिधेयव्यपदेशेन शास्त्रं व्यपदिशन्तः तत्पूर्वकवयः। यथा तत्त्वार्थवृत्तिर्यशोधरचरितं च । भद्ररुद्रटोऽपि तथैवाह--- काव्यालकडारोऽयं ग्रन्थः क्रियते तथायुक्ति इति। पद्यं --- परिमिताक्षरमात्रापिण्डः पादः, तन्निबद्धं वाङ्मयं वृत्तश्लोकार्यारूपम् । निर्दुःखं सुखं --- नैश्रेयसं शर्म न सांसारिकम् , संसारे हि दुःखानुषक्तमेव सुखम् । तदुक्तम् ----

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।

जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥ [प्रव. १। ७६]

ग्रन्थकार ग्रन्थका प्रमाण और ग्रन्थमें कहे जानेवाले विषयके बहानेसे ग्रन्थका नाम बतलाते हुए प्रकृत ग्रन्थको रचनेको प्रतिज्ञा करते हैं ---

इसके अनन्तर मैं दो हजार पद्योंसे धर्माभूत ग्रन्थको कहता हूँ । दुःखसे रहित सुखके अभिलाक्षी बुद्धिशाली भव्य उसे सुने ॥६॥

विशेषार्थ--- इस श्लोकके प्रारम्भमें आये अर्थ शब्दका अर्थ मंगल है। कहा है --- घसिद्धि, बुद्धि, जय, वृद्धि, राज्यपुष्टि, तथा ओकार, अर्थ शब्द और नान्दह ये मंगलवाचक हैं 'अथ' शब्दका अर्थ अधिकार

है। यहाँसे शास्त्रका अधिकार प्रारम्भ होता है। अथ शब्दका अनन्तर अर्थ भी है। यहाँसे शास्त्रका अधिकार प्रारम्भ होता है। थि शब्दका अनन्तर अर्थ भी है। निबध्द मुख्यं मंगल करनेके अनन्तर ऐसा उसका अर्थ होता है। धवलाकार वीरसेन स्वामीने धवलाके प्रारम्भमें मंगलके दो भेद किये हैं--- निबध्द और अनिबध्दा। ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा जो इष्ट देवता नमस्कार निबध्द कर दिया जाता है--- श्लोकादिके रूपमें लिख दिया जाता है उसे निबध्द मंगल कहते हैं। जैसे इस ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने सिध्द परमेष्ठी आदिका स्तवन निबध्द कर दिया है अमः यह निबध्दमंगल है। धर्मका लक्षण पहले कहा है। वह धर्म अमृतके तुल्य होता है क्योंकि जो उसका आचरण करते हैं वे अजर- अमर पदको प्राप्त करते हैं। इस शास्त्रमें उसीका कथन है इसलिए इस शास्त्रको धर्मामृत नात दिया गया है। पूर्व आचार्यों और कवियोंने भी शास्त्रमें प्रतिपादित वस्तुत्वके कथन द्वारा शास्त्रका नाम कहा है ऐसा सुना जाता है। जैसे तत्वार्थवृत्ति या यशोधरचरित। रुद्रट भट्टने भी ऐसा ही कहा है--- यहाँ काव्यालंकार ग्रन्थ युक्ति अनुसार करता हूँ। परिमित अक्षर और मात्राओंके समूहको पाद कहते हैं। पादोके द्वारा रचित छन्द, श्लोक या आर्यारूप वाङ्मयको पद्य कहते हैं। इस धर्मामृत ग्रन्थको दो हजार पद्योंमें रचनेका संकल्प ग्रन्थकारने किया है। वे भव्यजीवोंसे उसको श्रवण करनेका अनुरोध करते हैं। जिन जीवोंमें अनन्त ज्ञानादिको प्रकट करनेकी योग्यता होती है उन्हें भव्य कहते हैं। उन भव्योंको ग्रन्थकारने धीधना कहा है--- धी अर्थात् अष्टगुणसहित बुद्धि ही जिनका धन है जो उसे ही अति पसन्द करते हैं। इस शास्त्रको श्रवण करनेका लाभ बतलाते हुए वह कहते हैं ---- यदि दुःखोसे रहित अनाकुलतारुप मोक्ष सुखको चाहते हो तू इस शास्त्रको सुनो। सांसारिक सुख तो दुःखोसे रिला- मिला होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें कहा

१. घसिद्धिर्बुद्धिर्जयो वृद्धी राज्यपुष्टी तथैव च।

ओंकारश्चाथशब्दश्च नान्दीमङ्गलवाचिनः

अथवा दुःखस्याभावानिदुःखं (दुःखानामभावो निर्दुःखं) सुखं चेति ग्राहयम् । चशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । भव्याः--- हे अनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्या जीवाः। किञ्च ---

मंगल- निमित्त- हेतु- प्रमाण- नामनि शास्त्रकत्स्र्चा।

व्याकृत्य षडपि पश्चाद् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः॥ []

इति मङ्गलादिषट्कमिह प्रदर्शयते --- तत्र, मलं पापं गालयति मङ्गलं वा पुण्यं लाति ददातीति मङ्गलम् । परमार्थतः सिध्दादिगुणस्तवनमुक्तमेव । शब्दं तु मङ्गलमथेति प्रतिनिर्दिष्टम् । यमुद्दिश्य शास्त्रमभिधीयते तन्निमित्तम् । तच्चेह भव्या इति निर्दिष्टम् । हेतुः प्रयोजनम् । तच्चेह सम्यग् धर्मस्वरूपादिजननलक्षणं दिशामीति श्रुणूत इति च पदव्ययेन सूचित लक्ष्यते। येन हि क्रियाया प्रयुज्यते तत्प्रयोजनम् । शास्त्रश्रवणादि -

क्रियायां च ज्ञानेने प्रयुज्यत इति सम्यग्धर्मस्वरूपज्ञानमेवास्य शास्त्रम् मुख्यं प्रयोजनम् । आनुषङ्गिकं धर्मसामग्रयादि ज्ञानमपि । भवति चात्र श्लोकः ---

घशास्त्रं लक्ष्मविकल्पास्तुपायः साधकास्तथा ।

सहायाः फलमित्याह दृगाद्वाराधनाविधेः" []

है कि घ्जो सुख इंन्द्रियोसे प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधासहित है, असातावेदनीयका उदय आ जानेपर विच्छिन्न हो जाता है, उसके भोगने राग- व्देष होता है अतः नवीन कर्मबन्धका कारण है तथा घटता- बड़ता होनेसे अस्थिर है, अतः दुख रूप ही है। अतः दुःखोसे रहित सुखके इच्छुक भव्य जीव ही इस शास्त्रको सुननेके अधिकारी है ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

ऐसी प्रसिद्धी है कि घ्मंगल , निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम और शास्त्रकर्ता --- इन छहका कथन करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका कथन करना चाहिए । अतः यहाँ इन छहोंका कथन किया जाता है । मं अर्थात् मलका --- पापका जो गालन करता है ---- नाश करता है या मंग अर्थात् पुण्यको लाता है उसे मंगल कहते है । वह मंगल प्रारम्भ किये गये इच्छित कार्यकी निविघ्न परिसमाप्तिके लिए किया जाता है । वह मंगल दो प्रकार है--- मुख्य और गौण । तथा मुख्य मंगलके भी दो प्रकार है--- एक अर्थरूप और दूसरा शब्दरूप । उनमें- से अर्थरूप मुख्य मंगल भगवान् सिध्दपरमेष्ठी आदिके गुणोके स्मरणादि रूपमें पहले ही किया गया है । उससे प्रारम्भ करनेके लिए इष्ट शास्त्रकी सिध्दिमें निमित्त अधर्मविशेषका विनाश और धर्मविशेषका स्वीकार सम्पन्न होता है । शब्दरूप मुख्य मंगल अनन्तर ही श्लोकके आदिमें अथ शब्दका उच्चारण करके किया है क्योंकि अथ शब्द भी मंगलकारक प्रसिध्द है । कहा भी है--- शास्त्रके आदिमें जीन लोकोके स्वामीको नमस्कार करना अथवा विशिष्ट शब्दोंसे स्मरण करना मंगल माना गया है ।

सम्पूर्ण कलश, दही, अक्षत, सपेद्द फूलका उपहार आदि तो मुख्य मुगलकी प्राप्तिका उपाय होनेसे अमुख्य मंगल कहे जाते है । प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने इस ग्रन्थके आरम्भमें उक्त अमुख्य मंगलको भी किया है उनके बिना शास्त्रकी सिध्दि सम्भव नहीं है । जिसके उद्देश्यसे शास्त्रकी रचना की जाती है वह निमित्त होता है । भव्या रूपसे यहाँ उसका कथन किया ही है क्योंकि उन्हीके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ।

घ्त्रैलोक्येशनमस्कार लक्षणं मङ्गलं मतम् ।

विशिष्टभूतशब्दानां शास्त्रादावथवा स्मृतिः॥६॥

तत्परिज्ञानात् पुनः सम्यग्धर्मानुष्ठाने प्रवर्तमानोऽनाकुलत्वाख्यमनन्तं सुखं परमाव्याबाधत्वं च प्राप्नोतीति परम्परया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं वस्तुतः सुखस्य दुःखनिवृत्तेर्वा पुरुषेणार्थ्यमानत्वात् तत्र (तच्च) निर्दुखं सुखमिति पदव्दयेनोक्तमेव। पमाणं तु पद्यव्दिहस्त्रा इत्यनेनैवोक्तं तावत् ।ग्रन्थतस्तु व्दिसहस्त्रप्रमाणमस्या नाम पुनरस्य धर्मा मृत मिति प्राग् व्युत्पादितम् । कर्ता त्वस्यार्थतोऽनुवादकत्वेन ग्रन्थतश्च पद्यसन्दर्भनिमपिकत्वेन अहं इत्यनेनोक्तः। संबन्धश्चास्य शास्त्रस्य सम्यग्धर्मस्वरुपादेश्चाभिधानाभिधेयलक्षणो नाम्नैवाभिहित इति सर्व सुस्थम् ॥६॥

अथ दुर्जनापवादशकडामपनुदति ---

परानुग्रहबुद्धिनां महिमा कोऽप्यहो महान् ।

येन दुर्जनवाग्वज्रः पतन्नेव विहन्यते ॥७॥

स्पष्टम् ॥७॥

अथ सम्यग्धर्मोपदेशकानां समासोक्त्या कलिकाले दुर्लभत्वं भावयति ----

हेतु प्रयोजनको कहते है । घ्सम्यक् धर्मके स्वरुप आदिका कथन करुगाँ, उसे सुनोड, इन दो पदोसे प्रयोजनकी सूचना की गयी प्रतीत होती है । जिसकेव्दारा कार्यमें प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोजन कहते

है। ज्ञानके द्वारा ही शास्त्र- श्रवण आदि क्रियामें प्रेरित होता है इसलिए वही शास्त्रका मुख्य प्रयोजन है। शास्त्र*- श्रवण आदिसे मुझे ज्ञानकी प्राप्ति होगी इस हेतुसे ही शास्त्रमें प्रवृत्त होता है। इसलिए इस शास्त्रका मुख्य प्रयोजन सम्यग्धर्मके स्वरूपका ज्ञान ही है। आनुषंगिक प्रयोजन धर्मकी सामग्री आदिका ज्ञान भी है। उसको जानकर सम्यग्धर्मका पालन करनेमें लगा व्यक्ति अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, वितृष्णामय, अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख और परम अव्याबाध्यात्व गुणोंको प्राप्त करता है। इस प्रकार परम्परासे ये सब भी इस शास्त्रके प्रयोजन है। वास्तवमें पुरुष सुख या दुःखनिवृत्तिको ही चाहता है। निर्दुख सुख इन दो पदोंसे वह बात कही ही है। प्रमाण दो हजार पद्य द्वारा बतला दिया गया है अर्थात् इस ग्रन्थका प्रमाण दो हजार पद्य है। इसका नाम धर्मात्मत है यह भी पहले व्युत्पत्ति द्वारा बतला दिया है। ध्रुव (मै) पदसे कर्ता भी कह दिया है। अर्थरूपसे और ग्रन्थरूपसे मैने (आशाधरने) इसकी रचना की है, अर्थरूपसे मै इसका अनुवादक मात्र हूँ। जो बात पूर्वाचार्याने कही है उसे ही मैने कहा है और ग्रन्थरूपसे मैने इसके पद्योंकी रचना की है। इस शास्त्रका और इसमें प्रतिपाद्य सम्यग्धर्म स्वरूप आदिका वाच्यवाचक भाव रूप सम्बन्ध है यह इस ग्रन्थके नामसे ही कह दिया गया है। अतः यह ग्रन्थ सम्यग्धर्मके अनुष्ठान और अनन्त सुख आदिका साधनरूप ही है यह निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिए।

इससे इस शास्त्रके सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन रहित होनेकी शंकाका निराश हो जाता है ॥६॥

आगे दुर्जनोके द्वारा अपवाद किये जानेकी शंकाको दूर करते हैं---

जिनकी मति दूसरोंके कल्याणमें तत्पर रहती है उपकी कोई अनिर्वचनीय महान् महिमा है जिससे दुर्जनोंका वचनरूपी वज्र गिरे ही नष्ट हो जाता है ॥७॥

आगे ग्रन्थकार समासोक्ति अलंकारके द्वारा कलिकालमें सम्यग्धर्मके उपदेशकोकी दुर्लभता बतलाते हैं ----

सुप्रापाः स्तनयित्वनः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये;

प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्दं मुधा।

३ ये प्रागब्दचितान् फलधिर्दुदकैर्त्रीहीन्नयन्तो नवान्

सत्क्षेत्राणि पृणन्त्यालं जनयितु ते दुर्लभास्तद्धनाः॥८॥

स्तनयित्वनः--- मेघाः, सूक्त्या देशकाश्चा शरदि ---- घनान्ते दुष्पमायां च, उत्पद्य उध्वतीभूय च, ६ प्रत्याशं --- प्रतिदिशं प्रतिस्पृहं च, प्रागब्दचितान् --- प्रावृङ्मेघपुष्टान् पूर्वाचार्यव्युत्पादिततानि च, फलधिर्दुदकैः--- सस्यसम्पत्ति सदाचरणप्रकर्ष च, उदकैः--- पक्षे सम्यगुपदेशैः ब्रीहिन् --- धान्यनि प्रागब्दचितानि (-- तानिति) विशेषणाच्छाल्यादिस्तम्बान् शास्त्रार्थरहस्यानि चा नवान् --- गोध्मादिस्तम्बान् अपूर्वव्युत्पत्तिविशेषाश्च।

सत्क्षेत्राणि --- पक्षे विनीताविनेयान् , पृणयन्ति, तद्घनाः--- शरन्मेघाः ऐदंयुगीनगणिनश्च ॥८॥

अथ व्यवहारप्रधानदेशनायाः कर्तारमाशंसन्ति ---

शरद ऋतुमें ऐसे मेघ सुलभ है जो बड़े आडम्बरके साथ उठकर और प्रत्येक दिशामें फैलकर वृथा ही बड़े जोरसे गरजते हैं और देखते देखते विलीन हो जाते हैं। किन्तु जो वर्षाकालके मेघोंसे पुष्ट हुए

धान्यको फल सम्पन्न करते तथा नवीन धान्योको उत्पन्न करनेकेलिए खेतोंको जलसे भर देते है ऐसे मेघ दुर्लभ है ॥८॥

विशेषार्थ--- रुद्रट भट्टने समासोक्ति अलंकारका लक्षण एस प्रकार कहा है--- जहाँ समस्त समान विशेषणोंके साथ एक उपमानका ही इस प्रकार कथन किया जाये कि उससे उपमेयका बोध हो जाये उसे समासोक्ति अलंकार कहते है । प्रकृत कथन उसी समासोक्ति अलंकारका निदर्शन है । श्लोकके पूर्वार्धमें मेघ उपमान है और मिथ्या उपदेशक उपमेय है । मेघके साथ समस्त विशेषणोंकी समानता होनेसे समासोक्ति अलंकारके बलसे मिथ्या उपदेशको की प्रतीत होती है । शरद् ऋतुमें वर्षाकालका अन्त आता है । उस समय बनावटी मेघ बडे घटाटापसे उठते है, खूब गरजते है किन्तु बरसे विना ही जल्द विलीन हो जाते है । इसी तरह इस पंचम कालमें मिथ्या उपदेशदाता भी अभ्सुदय और निश्रेयस मार्गका उपदेश दिये विना ही विलीन हो जाते है यद्यपि उनका आडम्बर बडी धूमधूमका रहता है । इसी तरह श्लोकके उत्तरार्धमे जो मेघ उपमान रूप है उनसे समस्त विशेषणोंकी समानता होनेसे समासोक्ति अलंकारके बलसे सम्यक् उपदेशकोकी उपमेय रूपसे प्रतीत होती है । जैसे शरद्कालमे ऐसे मेघ दुर्लभ है जो वर्षाकालके मेघोसे पुष्ट हुए पहलेके धान्योके फल सम्पन्न करनेके लिए तथा नवीन धान्योको उत्पन्न करनेके लिए खेतोसे जलसे भर देते है । वैसे ही पंचम कालमें ऐसे सच्चे उपदेष्टा दुर्लभ है जो पूर्वाचार्योके उपदेशसे व्युत्पन्न हुए पुरुषोंको सम्यक् - उपदेशके द्वारा सदाचारासे सम्पन्न करते है और नये विनीत धर्म प्रेमियोकी उत्पन्न करते है । यहाँ वर्षाकालमें मेघ उपमान है, पूर्वाचार्ये उपमेय है: फल सम्पत्ति उपमान है, सदाचारकी प्रकर्षता उपमेय है । जल उपमान है, सम्यक् उपदेश उपमेय है । नवीन गेहूँकी बालें उपमान है; नयी व्युत्पत्तियाँ या शास्त्रोके अर्थका रहस्य उपमेय है। अच्छे खेत उपमान है, विनित शिष्य उपमेय है । शरदकालके मेघ उपमान है, इस युगके गणी उपमेय है ॥८॥

पहले कहा है कि मंगल आदिका कथन करके आचार्योको शास्त्रका व्याख्यान करना चाहिए । अतः आगे ग्रन्थकार आचार्यका लक्षण बतलानेके उद्देश्यसे व्यवहार प्रधान उपदेशके कर्ताका कथन करते है ----

प्रोद्यन्निर्वेदपुष्यद्रतचरणरसः सम्यगाम्नायधर्ता,

धीरे लोकस्थितिज्ञः स्वपरमतविदां वाग्मिनां चोपजीव्यः।

सन्मूर्जिस्तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुणः प्राणदाज्ञोऽभिगम्यो,

निर्ग्रन्थाचार्यवर्यः परहितनिरतः सत्पथं शास्तु भव्यान् ॥९॥

निर्वेदः--- भवाङ्गभोगवैराग्यम् , आम्नायः कुलमागमश्च । उक्तं च ---

रुपाम्नायगुणैराढयो यतीनां मान्य एव च ।

तपोज्येष्ठो गुरुश्रेष्ठो विज्ञेयो गणनायकः ॥९

अतिशय रूपसे बढ़ते हुए वैराग्यसे जिनका व्रताचरणमें रस पुष्ट होता जाता है । जो सम्यक् आम्नायके --- गुरुपरम्परा और कुलपरम्पराके धारक है, धीर है --- परीषह उपसर्ग आदिसे विचलीत नहीं होते, लोककी स्थितिको जानते है, स्वमत और परमतके ज्ञाताओंमे तथा वक्ताओंमें अग्रणी है, प्रशस्त मूर्ति है, तीर्थ और तत्व दोनोंके कथनमें निपुण है, जिनका शासन प्राणवान् है उसका कोई उलंघन नहीं करता,

जिनके पास प्रत्येक व्यक्ति जा सकता है, तथा जो सदा परोपकारमें लीन रहते हैं ऐसे श्रेष्ठ निर्ग्रन्थाचार्य भव्य जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देवें ॥१॥

विशेषार्थ--- गुप्ति और समितिके साथ व्रतोंके पालन करनेको व्रताचरण कहते हैं । और संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्तिको वैराग्य या निर्वेद कहते हैं। शान्तरसकी प्राप्तिके अभिमुख होनेसे उत्पन्न हुए आत्मा और शरीरके भेदज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे जिनका व्रताचरणका रस प्रति समय वृद्धिकी ओर होता है, तथा जो सम्यक् आत्माके धारी होते हैं--- आम्नाय आगमको भी कहते हैं और आम्नाय वंशपरंपरा और गुरुपरम्परा तथा कुलपरम्पराके धारक हैं, दूसरे शब्दोंमें --- परम्परागत उपदेश और सन्तानक्रमसे आये हुए तत्त्वज्ञान और सदाचरणमें तत्पर हैं, परीषह और उपसर्गसे भी अधीर नहीं होते हैं, चराचर जगत् के व्यवहारके ज्ञाता होते हैं, अपने स्याद्वाद सिद्धान्तको तथा अन्य दर्शनोंके एकान्तवादको जाननेवालोंके पिछलग्गू न होकर अग्रणी होते हैं, इसी तरह वक्तृत्व शक्तिसे विशिष्ट पुरुषोंमें भी अग्रणी होते हैं, जिनकी मूर्ति सामूद्रिक शास्त्रमें कहे गये लक्षणोंसे शोभित तथा घने रोम, स्थूलता और दीर्घता इन तीन दोषोंसे रहित होनेसे कारण पशस्त होती है । आगममें कहा है ---- छरुप, आम्नाय और गुणोंसे सम्पन्न, यतियोंको मान्य , तपसे ज्येष्ठ और गुरुओंमें जो श्रेष्ठ होता है उसे गणनायक --- संघका अधिपति गणधर कहते हैं । ६

तथा जो तीर्थ और तत्त्वके प्रणयनमें निपुण होते हैं--- जिसके द्वारा संसार--- समुद्रको तिरा जाता है उसे तीर्थ कहते हैं । इसब अनेकान्तात्मकड इस प्रकारका मत ही तीर्थ है और समस्त मतवादोंको तिरस्कृत करते हुए व्यवहार और निश्चयनयके प्रयोगसे प्रकाशित विचित्र आकारवाली चक्रात्मक वस्तुका कथन करनस प्रणयन है । तथा अध्यात्म रहस्यको तत्त्व कहते हैं । भूतार्थनय और अभूतार्थनयके द्वारा व्यवस्थापित दया, इन्द्रिय दमन , त्याग, समाधिमें प्रवर्तनसे होनेवाले परमानन्द नदका उपदेश उसका प्रणयन है। अर्थात् तीर्थ और तत्त्व दोनोंके प्रणयनमें --- मुख्य और उपचारके कथनमें निपुण होना चाहिए । यदि वह किसी

म.कु.च. टीकायां छुक्तं चार्षेड इति लिखितं किन्तु महापुराणे नास्ति श्लोकोऽयम् ।

धीरः--- परीषहोसपर्गे रविकार्यः। लोकस्थितिज्ञः--- लोकस्य चराचरस्य जगतः स्थितिमित्थंभावानियमं जानन् वर्णाश्रमव्यवहारचतुरो वा, तीर्थतत्त्वे --- जिनागमतदभिधेर्या व्यवहारनिश्चनयो वा। प्राधदाज्ञः---

जीवन्ती जीवितप्रदा वा आज्ञा यस्य । अभिगम्यः--- सेव्यः। निर्ग्रन्थाः--- ग्रथन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थसस मिथ्यात्वादयस्तेभ्यो निष्प्रन्ता यतयस्तेषामायार्याः। उक्तं च ---

पञ्चधा चरन्त्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च ।

६ सर्वशास्त्रविदो धीरस्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः ॥१॥ []

अथाध्यात्मरहस्यगुरोः सेवायां मुमुक्षून्नियुङ्क्ते ---

एकमें ही निपुण हुए तो दूसरेका लोप हो जायेगा अर्थात् केवल निश्चयनयमें निपुण होनेसे व्यवहारका लोप होगा और केवल व्यवहारनयमें निपुण होनेसे निश्चयका लोप होगा । कहा भी है--- घ्यदि जिनमतका प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयको मत छोड़ो ।